वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क १०

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत

(श्रीवीरजिन-गुणकथा-सहकृत)

हिताऽन्वेषणोपायभूत

युक्त्यनुशासन

(युक्तिपरक जैनागम)

[समन्तभद्र भारतीका एक प्रमुख अङ्ग]

अनुवादक और परिचायक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रकाशक

वीर-सेवा-मन्दिर

सरसावा जिला सहारनपुर

प्रथम संस्करण १०००	वीर-शासन जयन्ती, वीर संवत २४७७ वि० संवत २००८, जुलाई १९५१	मूल्य सवा रुपया

ग्रन्थानुक्रम

कुल पृष्ठसंख्या = १४८

राजहंस प्रेस, सदर बाजार, दिल्ली

समर्पण

त्वदीयं वस्तु भोः स्वामिन् !
तुभ्यमेव समर्पितम् ।

हे आराध्य गुरुदेव स्वामि-समन्तभद्र ! आपकी यह अनुपम-कृति 'युक्त्यनुशासन' मुझे आजसे कोई ४६ वर्ष पहले प्राप्त हुई थी, जब कि यह 'सनातन जैनग्रन्थमाला'के प्रथम गुच्छकमें पहली ही बार बम्बईसे प्रकाशित हुई थी। उस वक्तसे बराबर यह मेरी पाठ्य वस्तु बनी हुई है, और मैं इसके अध्ययन-मनन तथा मर्मको समझनेके यत्न-द्वारा इसका समुचित परिचय प्राप्त करने में लगा रहा हूँ। मुझे वह परिचय कहाँ तक प्राप्त हो सका है और मैं कितने अंशोंमें इस ग्रन्थके गूढ तथा गंभीर पद-वाक्योंकी गहराईमें स्थित अर्थको मालूम करनेमें समर्थ हो सका हूँ, यह सब संक्षेपमें ग्रन्थके अनुवादसे, जो आपके अनन्य भक्त आचार्य विद्यानन्दकी संस्कृत टीकाका बहुत कुछ आभारी है, जाना जा सकता हूँ, और उसे पूरे तौर पर तो आप ही जान सकते हैं। मैं तो इतना ही समझता हूँ कि आपकी आराधना करते हुए आपके ग्रन्थों परसे, जिनका मैं बहुत ऋणी हूँ, मुझे जो दृष्टि-शक्ति प्राप्त हुई है और उस दृष्टि-शक्तिके द्वारा मैंने जो कुछ अर्थका अवलोकन किया है, यह कृति उसी-का प्रतिफल है। इसमें आपके ही विचारोंका प्रतिबिम्ब होने-से वास्तवमें यह आपकी ही चीज़ है और इस लिए आपको ही सादर समर्पित है। आप लोकहितकी मूर्ति हैं, आपके प्रसाद-से इस कृति-द्वारा यदि कुछ भी लोकहितका साधन हो सका तो मैं अपनेको आपके भारी ऋणसे कुछ उऋण हुआ समझूँगा।

विनम्र
जुगलकिशोर

धन्यवाद

समन्तभद्र-भारतीके प्रमुख अङ्गस्वरूप 'युक्त्यनुशासन' नामक इस महत्वपूर्ण सुन्दर ग्रन्थके सानुवाद प्रकाशनका श्रेय श्रीमान् बाबू नन्दलालजी जैन सुपुत्र सेठ रामजीवनजी सरावगी कलकत्ताको प्राप्त है, जिन्होंने श्रुत-सेवाकी उदार भावनाओंसे प्रेरित होकर तीन वर्ष हुए वीरसेवामन्दिरको अनेक ग्रन्थोंके अनुवादादि-सहित प्रकाशनार्थ दस हजार रुपयेकी सहायता प्रदान की थी और जिसमें स्तुति-विद्या, शासन-चतुस्त्रिंशिका और श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—जैसे ग्रन्थों-के अलावा श्रीविद्यानन्द-स्वामीका 'आप्त-परीक्षा' नामका महान् ग्रन्थ भी संस्कृत स्वोपज्ञ टीका और हिन्दी अनु-वादादिके साथ प्रकाशित हो चुका है। यह ग्रन्थ भी उसी आर्थिक सहायतासे प्रकाशित हो रहा है। अतः प्रकाशनके इस शुभ अवसर पर आपका साभार स्मरण करते हुए आपको हार्दिक धन्यवाद समर्पित है।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

प्रकाशक के दो शब्द

स्वामी समन्तभद्रकी यह महनीय-कृति 'युक्त्यनुशासन', जो जिज्ञासुओंके लिये न्याय-अन्याय, गुण-दोष और हित-अहित-का विवेक करानेवाली अचूक कसौटी है, आज तक हिन्दी संसार-की आँखोंसे ओझल थी—हिन्दीमें इसका कोई भी अनुवाद नहीं हो पाया था और इसलिये हिन्दी जनता इसकी गुण-गरिमा-से अनभिज्ञ तथा इसके लाभोंसे प्रायः वंचित ही थी। यह देख कर बहुत दिनोंसे इसके हिन्दी अनुवादको प्रस्तुत कराकर प्रका-शितकरनेका विचार था। तदनुसार ही आज इस अनुपम कृतिको विशिष्ट हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित करते और उसे हिन्दी जाननेवाली जनताके हाथोंमें देते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है। अनुवादको न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी प्रोफेसर हिन्दू विश्वविद्यालय काशीने अपने 'प्राक्कथन' में 'सुन्दरतम, अकल्पनीय सरलतासे प्रस्तुत और प्रामाणिक' बतलाया है। इससे ग्रन्थ-की उपयोगिता और भी प्रकाशित हो उठती है। आशा है अपने हितकी खोजमें लगे हुए हिन्दी पाठक इस ग्रन्थरत्नको पाकर प्रसन्न होंगे और आत्महितको पहचानने तथा अपनानेके रूप में ग्रन्थसे यथेष्ट लाभ उठाने तथा दूसरोंको उठाने देनेका भरसक प्रयत्न करें।

श्रीमान न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने इस ग्रन्थपर अपना जो 'प्राक्कथन' लिख भेजनेकी कृपा की है और जो अन्यत्र प्रकाशित है, उसके लिए वीरसेवामन्दिर उनका बहुत आभारी है और उन्हें हार्दिक धन्यवाद भेंट करता है।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर

अशुद्धि-विज्ञप्ति

(१) प्रेसके भूतोंकी कृपासे ग्रन्थ सानुवाद छपनेमें कहीं-कहीं कुछ अशुद्धियाँ हो गई है, जिनका संशोधन आवश्यक है उनकी विज्ञप्ति नीचे की जाती है। पाठक पहले ही उन्हें सुधार लेनेकी कृपा करें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	५	सम्यग्दर्शन	सम्यग्वर्णन
५	१२	नेकान्तवादमें	अनेकान्तवादसे
६	१७	मामावायरूप	समवायरूप
३१	१	र व-पुष्प	ख-पुष्प
,,	४	एकान्तावगादियों	एकान्तवादियों
३३	२५	भवगुक्तय	भवद्युक्त्य
३४	१३	दवाच्यमेवेत्य	दवाच्यमेवेत्य
३७	१२	अ पेज्ञा	अपेज्ञा
४८	२४	समासमकाला	समा समकाला
६४	सबत्र	युक्त्यनुशामन	युक्त्यनुशासन
८५	६	पदमर्धिगस्त्वं	पदमधिगतस्त्वं

(२) कहीं-कहीं कुछ शब्द जो ब्लैक टाइपमें छपने चाहियें थे वे सादा-सफेद टाइपमें छप गये हैं, जैसे पृष्ठ ५६के तीसरे पैरेके निम्न शब्द, उनके नीचे ब्लैक टाइप सूचक रेखा निम्न प्रकारसे लगा लेनी चाहिये—इस तरह हे जिन-नाग! आपकी दृष्टि दूसरोंके द्वारा अप्रधृष्य है और साथ ही परधर्षिणी भी है–

प्राक्कथन

युगप्रधान सर्वतोभद्र आचार्य समन्तभद्र स्याद्वाद-विद्याके सञ्जीवक और प्राण प्रतिष्ठापक थे। उन्होंने सर्वप्रथम भ० महावीर-के तीर्थको 'सर्वोदय' तीर्थ कहा। वे कहते हैं—हे भगवन, आप-का अनेकान्त तीर्थ ही 'सर्वोदय-तीर्थ' हो सकता है, क्योंकि इसमें मुख्य और गौण-भावसे वस्तुका अनेकधर्मात्मक स्वरूप सध जाता है। यदि एक दृष्टि दूसरी दृष्टिसे निरपेक्ष हो जाती है तो वस्तु सर्वधर्म-रहित शून्य ही हो जायगी। और चूंकि वस्तुका विविध धर्ममय रूप इस अनेकान्तकी दृष्टिसे सिद्ध होता है अतः यही समस्त आपदाओंका नाश करनेवाला और स्वयं अन्तरहित सर्वोदय-कारी तीर्थ बन सकता है--

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

किसी भी तीर्थके सर्वोदयी होनेके लिये आवश्यक है कि-उसका आधार समता और अहिंसा हो, अहङ्कार और पक्षमोह नहीं। भगवान महावीरका अनेकान्त-दर्शन उनकी जीवन्त अहिंसा-का ही अमृतमय फल है। हिंसा और संघर्षका मूलकारण विचार-भेद होता है। जब अहिंसामूर्त्ति कुमार सिद्धार्थ प्रव्रजित हुए और उनने जगतकी विषमता और अनन्त दुःखोंका मूल खोजनेके लिये बारह वर्षकी सुदीर्घ साधना की और अपनी कठिन तपस्याके बाद केवलज्ञान प्राप्त किया तब उन्हें स्पष्ट भास हुआ कि यह मानवतन-धारी अपने स्वरूप और अधिकारके अज्ञानके कारण स्वयं दुःखी हो रहा है और दूसरोंके लिये दुःखमय परिस्थितियोंका निर्माण

जान या अजानमें करता जा रहा है। श्रमण महाप्रभुने अपने निर्मल केवलज्ञानसे जाना कि इस विचित्रविश्वमें अनन्त द्रव्य हैं। प्रत्येक जड़ या चेतन-द्रव्य अपनेमें परिपूर्ण है और स्वतंत्र है। वह अनन्त धर्मात्मक है, अनेकान्तरूप है। शुद्ध द्रव्य एक दूसरेको प्रभावित नहीं करते। केवल पुद्गल द्रव्य ही ऐसे हैं जो अपनी शुद्ध या अशुद्ध हर अवस्थामें किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्यसे प्रभावित होते रहते हैं। एक द्रव्यका निसर्गतः दूसरे द्रव्य पर कोई अधिकार नहीं है। प्रत्येक द्रव्यका अधिकार है तो अपने गुण और अपनी पर्यायोंपर। वह उन्हींका वास्तविक स्वामी है। पर इस स्वरूप और अधिकारके अज्ञानी मोही प्राणीने जड पदार्थ तो दूर रहे, चेतन द्रव्योंपर भी अधिकार जमानेकी दुर्वृत्ति और मूढ प्रवृत्ति की। इसने जड पदार्थोंका संग्रह और परिग्रह तो किया ही, साथ ही उन चेतन द्रव्योंपर भी स्वामित्व स्थापन किया जिन प्रत्येकमें मूलतः वैसे ही अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणोंकी सत्ता है, जो उसी तरह सुख-दुःखका संवेदन और संचेतन करते हैं जिस प्रकार कि वह, और वह भी किया गया जाति-वर्ण और रंगके नामपर।

श्रमण-प्रभुने देखा कि यह विषमता तथा अधिकारोंकी छीना-झपटीकी होड़ व्यवहारक्षेत्रमें तो थी ही, पर उस धर्म-क्षेत्रमें भी जा पहुँची है जिसकी शीतल छायामें प्राणिमात्र सुख, शान्ति और समताकी सांस लेता था। मांसलोलुपी प्रेयार्थी व्यक्ति पशुओंकी बलि धर्मके नामपर दे रहे थे। उन प्रवृत्तिरक्त पर शमतुष्टिरिक्त यज्ञजीवियोंको भगवानने यही कहा कि—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य-पर कोई अधिकार नहीं और अधिकार जमानेकी अनधिकार चेष्टा ही अधर्म है, पाप है और मिथ्यात्व है। फिर धर्मके नामपर यह चेष्टा तो घोर पातक है।

स्वामी समन्तभद्रने भूतचैतन्यवादी चार्वाकोंका खण्डन करते

समय उन्हें 'आत्मशिश्नोदरपुष्टितुष्ट' (स्वार्थी, काम और उदर पोषणमें मस्त) और 'निर्ह्रीभय' (भय और लोकलाजसे रहित) विशेषण दिया है। पर वस्तुतः देखा जाय तो यज्ञजीवी और धर्म-हिंसी लोग इन विशेषणोंके सर्वथा उपयुक्त हैं। भगवान्‌के सर्वोदय शासनमें प्रत्येक प्राणीको धर्मके सब अवसर हैं, सभी द्वार उन्मुक्त हैं। मनुष्य बिना किसी जाति, पांति, वर्ण, रंग या कुल आदिके भेदके अपनी भावनाके अनुसार धर्मसाधन कर सकता है।

श्रमण महाप्रभुने अहिंसाकी चरम साधनाके बाद यह स्पष्ट देखा कि जब तक अहिंसाका तत्त्वज्ञान दृढ़भूमि पर नहीं होगा तब तक बुद्धिविलासी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक इसकी उपासना नहीं कर सकते। खासकर उस वातावरणमें जहां 'सत्, असत्, उभय अनुभय' 'नित्य, अनित्य, उभय, अनुभय' आदि चतुष्को-टियोंकी चर्चा चौराहों पर होती रहती हो। विविध विचारके बुद्धिमान प्राणी प्रभुके संघमें उनकी अलौकिक वृत्तिसे प्रभावित होकर दीक्षित होने लगे, पर उनकी वस्तुतत्त्वके बोधकी जिज्ञासा बराबर बनी ही रही। उनकी साधनामें यह जिज्ञासा पदार्थोंकी आकुलता उत्पन्न करनेके कारण महान कंटक थी। इसकी शान्ति-के बिना निराकुल और निर्विकल्प समता पाना कठिन था। खास कर उस समय जब भिक्षाके लिये जाते समय गली कूँचोंमें भी शास्त्रार्थ हो जाते थे। संघमें भी तत्त्वज्ञानकी दृढ और स्पष्ट भूमिकाके बिना मानस शान्ति पाना कठिन ही था। प्रभुने अपने निरावरण ज्ञाननेत्रोंसे देखा कि इस विराट् विश्वका प्रत्येक चेतन और अचेतन अणु-परमाणु अनन्त धर्मोंका वास्तविक आधार है। सांसारिक जीवोंका ज्ञानलव उसके एक एक अंशको छूकर ही परि-समाप्त हो जाता है, पर यह अहंकारी उस ज्ञान-लवको ही 'महान्' मानकर मद-मस्त हो जाता है और दूसरेके ज्ञानको तुच्छ मान बैठता है। प्रभुने कहा—प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मोंका अखण्ड पिंड

है। छद्मस्थोंका ज्ञान उसके पूर्ण रूपको नहीं जान सकता। उसमें सत्, असत्, उभय, अनुभय ये चार कोटियां ही नहीं, इनको मिलाजुलाकर जितने प्रश्न हो सकते हों उन अनन्त सप्तभंगियोंके विषयभूत अनन्त धर्म प्रत्येक वस्तुमें लहरा रहे हैं। उन्होंने बुद्ध-की तरह तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें अपने शिष्योंको अनुपयोगिताके कुहरेमें नहीं डाला और न इस तरह उन्हें तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें मानसिक दैन्यका शिकार ही होने दिया। उनने आत्मा लोक पर-लोक आदिकी नित्यता अनित्यता आदिके निश्चित दृष्टिकोण सम-झाये। इस तरह मानस अहिंसाकी परिपूर्णताके लिये विचारोंका वस्तुस्थितिके आधारसे यथार्थ सामञ्जस्य करनेवाला अनेकान्त दर्शनका मौलिक उपदेश दिया गया। इसी अनेकान्तका निर्दुष्ट रूपसे कथन करने वाली भाषाशैली 'स्याद्वाद' कहलाती है। स्याद्वा-दका 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मके सिवाय वस्तुमें विद्यमान शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व करता है। वह उन मूक धर्मोंका सद्भाव तथा वस्तुमें उनका बराबरीका अधिकार बताता है और श्रोताको यह सोचनेको बाध्य करता है कि वह शब्दसे उच्चरित धर्मरूप ही वस्तु न समझ बैठे। अतः मानस अहिंसा 'अनेकान्त दर्शन', वाणी-की अहिंसा 'स्याद्वाद' तथा कायिक अहिंसा 'सम्यक् चारित्र' ये अहिंसा प्रासादके मुख्य स्तम्भ हैं। युगावतार स्वामी समन्तभद्रने अनेकान्त, स्याद्वाद तथा सम्यक्चारित्रके सारभूत मुद्दोंका विवेचन इस युक्त्यनुशासनमें दृढ निष्ठा और अतुल वाग्मिताके साथ किया है, जो कि उन्हीं वीरप्रभुके स्तोत्र रूपमें लिखा गया है। वे जैनमतका अमृतकुम्भ हाथमें लेकर अटूट विश्वाससे कहते हैं—भगवन्! दया, दम, त्याग और समाधिमें जीवित रहने वाला तथा नय और प्रमाणकी द्विविध शैलीसे वस्तुका यथार्थ निश्चय करने वाले तत्त्वज्ञानकी दृढ भूमिपर प्रतिष्ठित आपका मत अद्वि-तीय है, प्रतिवादियोंके द्वारा अजेय है—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैं जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

युक्त्यनुशासन जैसे जटिल और सारगर्भ महान् ग्रन्थका सुन्दरतम अनुवाद समन्तभद्र स्वामीके अनन्यनिष्ठ भक्त साहित्य-तपस्वी पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने जिस अकल्पनीय सरलतासे प्रस्तुत किया है वह न्याय-विद्याके अभ्यासियोंके लिये आलोक देगा। सामान्य-विशेष युतसिद्धि-अयुतसिद्धि, क्षणभंगवाद सन्तान आदि पारिभाषिक दर्शनशब्दोंका प्रामाणिकतासे भावार्थ दिया है। आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारकी यह एकान्त साहित्य-साधना आजके मोलतोलवाले युगको भी मँहगी नहीं मालूम होगी, जब वह थोड़ा-सा भी अन्तर्मुख होकर इस तपस्वीकी निष्ठाका अनुवादकी पंक्ति-पंक्तिपर दर्शन करेगा। वीरसेवामन्दिरकी ठोस साहित्य-सेवाएँ आज सीमित साधन होनेसे विज्ञापित नहीं हो रही हैं पर वे ध्रुवताराएँ हैं जो कभी अस्त नहीं होते और देश और कालको परिधियाँ जिन्हें धूमिल नहीं कर सकतीं। जैन समाजने इस ज्ञान-होताकी परीक्षा ही परीक्षा ली। पर यह भी अधीर नहीं हुआ और आज भी वृद्धावस्थाकी अन्तिम डालपर बैठा हुआ भी नवकोंपलोंकी लालिमासे खिल रहा है और इसे आशा है कि—"कालो ह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी"। हम इस ज्ञानयोगीकी साधनाके आगे सश्रद्ध नतमस्तक हैं और नम्र निवेदन करते हैं कि इनने जो आबदार ज्ञानमुक्ता चुन रखे हैं उनकी माला बनाकर रखदें, जिससे समन्तभद्रकी सर्वोदयी परम्परा फिर युगभाषाका नया रूप लेकर निखर पड़े।

हिन्दू विश्वविद्यालय
काशी, ता० १-६-५१

महेन्द्रकुमार
(न्यायाचार्य)

प्रस्तावना

ग्रन्थ-नाम

इस ग्रन्थका सुप्रसिद्ध नाम 'युक्त्यनुशासन' है। यद्यपि ग्रन्थके आदि तथा अन्तके पद्योंमें इस नामका कोई उल्लेख नहीं है—उनमें स्पष्टतया वीर-जिनके स्तोत्रकी प्रतिज्ञा और उसी-की परिसमाप्तिका उल्लेख है[1] और इससे ग्रन्थका मूल अथवा प्रथम नाम 'वीरजिनस्तोत्र' जान पड़ता है—फिर भी ग्रन्थकी उपलब्ध प्रतियों तथा शास्त्र-भण्डारोंकी सूचियोंमें 'युक्त्यनुशा-सन' नामसे ही इसका प्रायः उल्लेख मिलता है। टीकाकार श्री-विद्यानन्दाचार्यने तो बहुत स्पष्ट शब्दोंमें टीकाके मंगलपद्य, मध्य-पद्य और अन्त्यपद्यमें इसको समन्तभद्रका 'युक्त्यनुशासन' नामका स्तोत्रग्रन्थ उद्घोषित किया है; जैसा कि उन पद्योंके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

"जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्" (१)

"स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः" (२)

"श्रीमद्वीरजिनेश्वराऽमलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याऽखिलम्।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः"(४)

---

१ "स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं"(१);"नरागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ" (६३); "इति ''स्तुतः शक्त्या श्रेयः पद-मधिगतस्त्वं जिन मया। महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये" (६४)।

यहाँ मध्य और अन्त्यके पद्योंसे यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थ वीरजिनका स्तोत्र होते हुए भी 'युक्त्यनुशासन' नामको लिये हुए है अर्थात् इसके दो नाम हैं—एक 'वीरजिनस्तोत्र' और दूसरा 'युक्त्यनुशासन'। समन्तभद्रके अन्य उपलब्ध ग्रन्थ भी दो दो नामोंको लिये हुए हैं; जैसा कि मैंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' की प्रस्तावना-में व्यक्त किया है। पर स्वयम्भूस्तोत्रादि अन्य चार ग्रन्थोंमें ग्रन्थ-का पहला नाम प्रथम पद्य-द्वारा और दूसरा नाम अन्तिम-पद्य-द्वारा सूचित किया गया है और यहाँ आदि-अन्तके दोनों ही पद्योंमें एक ही नामकी सूचना की गई है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या 'युक्त्यनुशासन' यह नाम बादको श्रीविद्यानन्द या दूसरे किसी आचार्यके द्वारा दिया गया है अथवा ग्रन्थके अन्य किसी पद्यसे इसकी भी उपलब्धि होती है? श्रीविद्यानन्दाचार्यके द्वारा यह नाम दिया हुआ मालूम नहीं होता; क्योंकि वे टीकाके आदि मंगल पद्यमें 'युक्त्यनुशासन' का जयघोष करते हुए उसे स्पष्ट रूपमें समन्तभद्र-कृत बतला रहे हैं और अन्तिम पद्यमें यह साफ घोषणा कर रहे हैं कि स्वामी समन्तभद्रने अखिल तत्त्वकी समीक्षा करके श्रीवीरजिनेन्द्र-के निर्मल गुणोंके स्तोत्ररूपमें यह 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ कहा है। ऐसी स्थितिमें उनके द्वारा इस नामकरणकी कोई कल्पना नहीं की जा सकती। इसके सिवाय, शकसंवत ७०५ (वि. सं. ८४०) में हरिवंशपुराणको बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्यने 'जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्, वचः समन्तभद्रस्य' इन पदोंके द्वारा बहुत स्पष्ट शब्दोंमें समन्तभद्रको 'जीवसिद्धि' ग्रन्थका विधाता और 'युक्त्यनुशासन' का कर्ता बतलाया है। इससे भी यह साफ जाना जाता है कि 'युक्त्यनुशासन' नाम श्रीविद्यानन्द अथवा श्रीजिनसेनके द्वारा बादको दिया हुआ नाम नहीं है, बल्कि ग्रन्थकार-द्वारा स्वयंका ही विनियोजित नाम है।

अब देखना यह है कि क्या ग्रन्थके किसी दूसरे पद्यसे इस

नामकी कोई सूचना मिलती है? सूचना जरूर मिलती है। स्वामीजीने स्वयं ग्रन्थकी ४८वीं कारिकामें 'युक्त्यनुशासन'का निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

"दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।"

इसमें बतलाया है कि 'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप जो अर्थका अर्थसे प्ररूपण है उसे 'युक्त्यनुशासन' कहते हैं और वही (हे वीर भगवन्!) आपको अभिमत है—अभीष्ट है।' ग्रन्थका सारा अर्थ प्ररूपण युक्त्यनुशासनके इसी लक्षणसे लक्षित है, इसीसे उसके सारे शरीरका निर्माण हुआ है और इसलिये 'युक्त्यनुशासन' यह नाम ग्रन्थकी प्रकृतिके अनुरूप उसका प्रमुख नाम है। चुनाँचे ग्रन्थकारमहोदय, ६३वीं कारिकामें ग्रन्थके निर्माणका उद्देश्य व्यक्त करते हुए, लिखते हैं कि 'हे वीर भगवन्! यह स्तोत्र आपके प्रति रागभावको अथवा दूसरोंके प्रति द्वेषभावको लेकर नहीं रचा गया है, बल्कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और किसी प्रकृतविषयके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह हितान्वेषणके उपायस्वरूप आपकी गुण-कथाके साथ कहा गया है।' इससे साफ जाना जाता है कि ग्रन्थका प्रधान लक्ष्य भूले भटके जीवोंको न्याय-अन्याय, गुण-दोष और हित-अहितका विवेक कराकर उन्हें वीरजिन-प्रदर्शित सन्मार्गपर लगाना है और वह युक्तियोंके अनुशासन-द्वारा ही साध्य होता है, अतः ग्रन्थका मूलतः प्रधान नाम 'युक्त्यनुशासन' ठीक जान पड़ता है। यही वजह है कि वह इसी नाम से अधिक प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ है। 'वीरजिनस्तोत्र' यह उसका दूसरा नाम है, जो स्तुतिपात्रकी दृष्टिसे है, जिसका और जिसके शासनका महत्व इस ग्रन्थमें ख्यापित किया गया है। ग्रन्थके मध्यमें प्रयुक्त हुए किसी पदपरसे भी ग्रन्थका नाम रखनेकी प्रथा है, जिसका

एक उदाहरण धनञ्जय कविका 'विषापहार' स्तोत्र है, जो कि न तो 'विषापहार' शब्दसे प्रारम्भ होता है और न आदि–अन्तके पद्योंमें ही उसके 'विषापहार' नामकी कोई सूचना की गई है, फिर भी मध्य में प्रयुक्त हुए 'विषापहारं मणिमौषधानि' इत्यादि वाक्यपरसे वह 'विषापहार' नामको धारण करता है। उसी तरह यह स्तोत्र भी 'युक्त्यनुशासन' नामको धारण करता हुआ जान पड़ता है।

इस तरह ग्रन्थके दोनों ही नाम युक्तियुक्त हैं और वे ग्रन्थकार-द्वारा ही प्रयुक्त हुए सिद्ध होते हैं। जिसे जैसी रुचि हो उसके अनुसार वह इन दोनों नामोंमें से किसीका भी उपयोग कर सकता है।

ग्रन्थका संक्षिप्त परिचय और महत्व—

यह ग्रन्थ उन आप्तों अथवा 'सर्वज्ञ' कहे जाने वालोंकी परीक्षाके बाद रचा गया है, जिनके आगम किसी-न-किसी रूपमें उपलब्ध हैं और जिनमें बुद्ध कपिलादिके साथ वीरजिनेन्द्र भी शामिल हैं। परीक्षा 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधि-वाक्त्व' हेतुसे की गई है अर्थात् जिनके वचन युक्ति और शास्त्रसे अविरोध रूप पाये गये उन्हें ही आप्तरूपमें स्वीकार किया गया है—शेषका आप्त होना बाधित ठहराया गया है। ग्रन्थकारमहोदय स्वामी समन्तभद्रकी इस परीक्षामें, जिसे उन्होंने अपने 'आप्त-मीमांसा' (देवागम) ग्रन्थमें निबद्ध किया है, स्याद्वादनायक श्रीवीरजिनेन्द्र, जो अनेकान्तवादि-आप्तोंका प्रतिनिधित्व करते हैं, पूर्णरूपसे समुत्तीर्ण रहे हैं और इसलिये स्वामीजीने उन्हें निर्दोष आप्त (सर्वज्ञ) घोषित करते हुए और उनके अभिमत अनेकान्तशासनको प्रमाणाऽबाधित बतलाते हुए लिखा है कि आपके शासनाऽमृतसे बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे आप्त नहीं आप्ताभिमानसे दग्ध हैं; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष-प्रमाणसे बाधित है—

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥
त्वन्मताऽमृत-बाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताऽभिमान-दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥
— आप्तमीमांसा

इस तरह वीरजिनेन्द्रके गलेमें आप्त-विषयक जयमाल डाल-कर और इन दोनों कारिकाओंमें वर्णित अपने कथनका स्पष्टीकरण करनेके अनन्तर आचार्य स्वामी समन्तभद्र इस स्तोत्रद्वारा वीर-जिनेन्द्रका स्तवन करने बैठे हैं, जिसकी सूचना इस ग्रन्थकी प्रथम कारिकामें प्रयुक्त हुए 'अद्य' शब्दके द्वारा की गई है। टीकाकार श्रीविद्यानन्दाचार्यने भी 'अद्य' शब्दका अर्थ **'अद्याऽस्मिन् का-ले परीक्षावसानसमये'** दिया है। साथ ही, कारिकाके निम्न प्रस्तावना-वाक्य-द्वारा यह भी सूचित किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ आप्तमीमांसाके बाद रचा गया है—

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्य-वच्छेदात् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थङ्कर-परमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः ? इति ते पृष्ठा इव प्राहुः ।"

स्वामी समन्तभद्र एक बहुत बड़े परीक्षा-प्रधानी आचार्य थे, वे यों ही किसीके आगे मस्तक टेकनेवाले अथवा किसीकी स्तुतिमें प्रवृत्त होनेवाले नहीं थे। इसीसे वीरजिनेन्द्रकी महानता-विषयक जब ये बातें उनके सामने आईं कि 'उनके पास देव आते हैं, आकाशमें बिना किसी विमानादिकी सहायताके उनका गमन होता है और

चंवर-छत्रादि अष्ट प्रातिहार्यों के रूपमें तथा समवसरणादिके रूपमें अन्य विभूतियोंका भी उनके निमित्त प्रादुर्भाव होता है, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'ये बातें तो मायावियोंमें–इन्द्रजालियोंमें-भी पाई जाती हैं, इनके कारण आप हमारे महान्-पूज्य अथवा आप्त-पुरुष नहीं हैं'[1] । और जब शरीरादिके अन्तर्बाह्य महान् उदयकी बात बतलाकर महानता जतलाई गई तो उसे भी अस्वीकार करते हुए उन्होंने कह दिया कि शरीरादिका यह महान उदय रागादिके वशीभूत देवताओंमें भी पाया जाता है। अतः यह हेतु भी व्यभिचारी है इससे महानता (आप्तता) सिद्ध नहीं होती[2] । इसी तरह तीर्थङ्कर होनेसे महानताकी बात जब सामने लाई गई तो आपने साफ कह दिया कि 'तीर्थङ्कर' तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसारसे पार उतरने अथवा निवृ ति प्राप्त करनेके उपाय रूप आगमतीर्थके प्रवर्तक माने जाते हैं तब वे सब भी आप्त-सर्वज्ञ ठहरते हैं, और यह बात बनती नहीं, क्योंकि तीर्थङ्करोंके आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है। अतः उनमें कोई एक ही महान् हो सकता है, जिसका ज्ञापक तीर्थङ्करत्व हेतु नहीं, कोई दूसरा ही हेतु होना चाहिये[3] ।

ऐसी हालतमें पाठकजन यह जाननेके लिये जरूर उत्सुक होंगे कि स्वामीजीने इस स्तोत्रमें वीरजिनकी महानताका किस रूपमें

१–३ देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नाऽतस्त्वमसि नो महान् ॥१॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥
तीर्थकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः ।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥
—आप्तमीमांसा

संद्योतन किया है। वीरजिनकी महानताका संद्योतन जिस रूपमें किया गया है उसका पूर्ण परिचय तो पूरे ग्रन्थको बहुत दत्तावधानताके साथ अनेक वार पढ़ने पर ही ज्ञात हो सकेगा, यहाँ पर संक्षेपमें कुछ थोड़ासा ही परिचय कराया जाता है और उसके लिये ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाएँ खास तौरसे उल्लेखनीय हैं :—

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं
नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

इनमेंसे पहली कारिकामें श्रीवीरको महानताका और दूसरीमें उनके शासनकी महानताका उल्लेख है। श्रीवीरकी महानताको इस रूपमें प्रदर्शित किया गया है कि 'वे अतुलित शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिको पराकाष्ठाको प्राप्त हुए हैं—उन्होंने मोहनीयकर्मका अभाव कर अनुपम सुख-शान्तिकी, ज्ञानावरण-दर्शनावरणकर्मोंका नाशकर अनन्त ज्ञान-दर्शन-रूप शुद्धिके उदयकी और अन्तराय-कर्मका विनाशकर अनन्तवीर्यरूप शक्तिके उत्कर्षकी चरमसीमाको प्राप्त किया है—और साथही ब्रह्मपथके—अहिंसात्मक आत्मविकासपद्धति, अथवा मोक्षमार्गके वे नेता बने हैं—उन्होंने अपने आदर्श एवं उपदेशादि-द्वारा दूसरोंको उस सन्मार्गपर लगाया है जो शुद्धि, शक्ति तथा शान्तिके परमोदयरूपमें आत्म-

विकासका परम सहायक है।' और उनके शासनकी महानताके विषयमें बतलाया है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (संयम) त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्तध्यान) की निष्ठा—तत्परता-को लिये हुए हैं, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट—सुनिश्चित करनेवाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंके द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषयको खण्डित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नहीं है। यही सब उसकी विशेषता है और इसी लिये वह अद्वितीय है।'

अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे वर्णित इस वीरशासनके महत्वको और उसके द्वारा वीरजिनेन्द्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीरजिन-द्वारा इस शासनमें वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोंमें निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको सिद्ध करनेमें असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ पाठकोंके लिये बड़ा ही रोचक है और वीरजिनेन्द्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्त-व्यापिनी बनानेवाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनों और उनके अवान्तर कितने ही वादों-का सूत्र अथवा संकेतादिकके रूपमें बहुत कुछ निर्देश और विवेक आगया है। यह विषय ३९वीं कारिका तक चलता रहा है। श्री-विद्यानन्दाचार्यने इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें वहाँ तकके वर्णित विषयकी संक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है—

> स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
> सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम्।
> निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
> तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम्॥

अर्थात्—यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासनस्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीरजिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है, उस सबका संक्षेपसे निराकरण किया गया है, यह बात सद्‌बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।

इसके आगे, ग्रन्थके उत्तरार्धमें, वीर शासन-वर्णित तत्त्वज्ञानके मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्तभद्रसे पूर्वके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जातीं, जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्दके प्रयोग-अप्रयोगके रहस्यकी बातें भी शामिल हैं और जिन सबसे वीरके तत्त्वज्ञानको समझने तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। वीरके इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रन्थमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—संसारसमुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी पार उतर जाते हैं और जो सबोंके उदय-उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकासमें सहायक है—और यह भी बतलाया है कि वह सर्वान्तवान है सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध और एकत्व-अनेकत्वादि अशेष धर्मोंको अपनाये हुए हैं, मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे सुव्यवस्थित है और सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला तथा स्वयं निरन्त है—अविनाशी तथा अखण्डनीय है। साथ ही, यह भी घोषित किया है कि जो शासन धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य होता है- उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है; ऐसी हालतमें सर्वथा एकान्तशासन 'सर्वोदयतीर्थ' पद-

के योग्य हो ही नहीं सकता। जैसा कि ग्रन्थके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
> सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
> सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
> सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

वीरके इस शासनमें बहुत बड़ी खूबी यह है कि 'इस शासनसे यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी, यदि समदृष्टि हुआ उपपत्ति चक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक समाधानकी दृष्टि-से—वीरशासनका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृंग खण्डित होजाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्या-मतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्या-दृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है।' ऐसी इस ग्रन्थके निम्न वाक्यमें स्वामी समन्तभद्रने जोरोंके साथ घोषणा की है—

> कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
> समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
> त्वयि ध्रुवं खण्डित-मान-शृङ्गो
> भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

इस घोषणामें सत्यका कितना अधिक साक्षात्कार और आत्म-विश्वास संनिहित है उसे बतलानेकी जरूरत नहीं, जरूरत है यह कहने और बतलानेकी कि एक समर्थ आचार्यकी ऐसी प्रबल घोषणाके होते हुए और वीरशासनको 'सर्वोदयतीर्थ'का पद प्राप्त

होते हुए भी आज वे लोग क्या कर रहे हैं जो तीर्थके उपासक कहलाते हैं, पण्डे-पुजारी बने हुए हैं और जिनके हाथों यह तीर्थ पड़ा हुआ है। क्या वे इस तीर्थके सच्चे उपासक हैं? इसकी गुण-गरिमा एवं शक्तिसे भले प्रकार परिचित हैं? और लोकहित-की दृष्टिसे इसे प्रचारमें लाना चाहते हैं? उत्तरमें यही कहना होगा कि 'नहीं'। यदि ऐसा न होता तो आज इसके प्रचार और प्रसारकी दिशामें कोई खास प्रयत्न होता हुआ देखनेमें आता, जो नहीं देखा जा रहा है। खेद है कि ऐसे महान प्रभावक ग्रन्थोंको हिन्दी आदिके विशिष्ट अनुवादादिके साथ प्रचारमें लानेका कोई खास प्रयत्न भी आजतक नहीं होसका है, जो वीर-शासनका सिक्का लोक-हृदयोंपर अङ्कित कर उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेवाले हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ कितना प्रभावशाली और महिमामय है, इसका विशेष अनुभव तो विज्ञपाठक इसके गहरे अध्ययनसे ही कर सकेंगे। यहाँ पर सिर्फ इतना ही बतला देना उचित जान पड़ता है कि श्री-विद्यानन्द आचार्यने युक्त्यनुशासनका जयघोष करते हुए उसे 'प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तु-तत्त्वमबाधितं' (१) विशेषणके द्वारा प्रमाण-नयके आधारपर वस्तुतत्त्वका अबाधित रूपसे निर्णायक बतलाया है। साथ ही टीकाके अन्तिम पद्यमें यह भी बतलाया है कि 'स्वामी समन्तभद्रने अखिल तत्त्वसमूहकी साक्षात समीक्षाकर इसकी रचना की है।' और श्रीजिनसेनाचार्यने, अपने हरिवंश-पुराणमें 'कृतयुक्त्यनुशासनं' पदके साथ 'वचः समन्तभ-द्रस्य वीरस्येव विजृम्भते' इस वाक्यकी योजना कर यह घोषित किया है कि समन्तभद्रका युक्त्यनुशासन ग्रन्थ वीरभगवानके वचन (आगम) के समान प्रकाशमान एवं प्रभावादिकसे युक्त है।' और इससे साफ जाना जाता है कि यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक है, आगमकी कोटिमें स्थित है और इसका निर्माण बीजपदों अथवा

गम्भीरार्थक और बह्वर्थक सूत्रोंके द्वारा हुआ है। सचमुच इस ग्रन्थकी कारिकाएँ प्रायः अनेक गद्यसूत्रोंसे निर्मित हुई जान पड़ती है, जो बहुत ही गाम्भीर्य तथा अर्थगौरवको लिये हुए हैं। उदाहरणके लिये ७वीं कारिकाको लीजिये, इसमें निम्न चार सूत्रोंका समावेश है—

१ अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वम् ।
२ स्वतन्त्राऽन्यतरत्खपुष्पम् ।
३ अवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः (संसर्गहानिः) ।
४ संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः ।

इसी तरह दूसरी कारिकाओंका भी हाल है। मैं चाहता था कि कारिकाओंपरसे फलित होनेवाले गद्य सूत्रोंकी एक सूची अलगसे दीजाती; परन्तु उसके तय्यार करनेके योग्य मुझे स्वयं अवकाश नहीं मिल सका और दूसरे एक विद्वान्से जो उसके लिये निवेदन किया गया तो उनसे उसका कोई उत्तर प्राप्त नहीं होसका। और इसलिये वह सूची फिर किसी दूसरे संस्करणके अवसर पर ही दी जा सकेगी।

आशा है ग्रन्थके इस संक्षिप्त परिचय और विषय-सूची परसे पाठक ग्रन्थके गौरव और उसकी उपादेयताको समझकर सविशेष-रूपसे उसके अध्ययन और मननमें प्रवृत्त होंगे।

देहली
ता० २४-६-१९५१

जुगलकिशोर मुख्तार

समन्तभद्रका संक्षिप्त परिचय

इस ग्रन्थके सुप्रसिद्ध कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं, जिनका आसन जैनसमाजके प्रतिभाशाली आचार्यों, समर्थ विद्वानों तथा लेखकों और सुपूज्य महात्माओंमें बहुत ऊंचा है। आप जैनधर्म-के मर्मज्ञ थे, वीरशासनके रहस्यको हृदयङ्गम किये हुए थे, जैन-धर्मकी साक्षात् जीती-जागती मूर्ति थे और वीरशासनका अद्वि-तीय प्रतिनिधित्व करते थे; इतना ही नहीं बल्कि आपने अपने समयके सारे दर्शनशास्त्रोंका गहरा अध्ययन कर उनका तल-स्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था और इसीसे आप सब दर्शनों, धर्मों अथवा मतोंका सन्तुलनपूर्वक परीक्षण कर यथार्थ वस्तुस्थिति-रूप सत्यको ग्रहण करनेमें समर्थ हुए थे और उस असत्यका निर्मूलन करनेमें भी प्रवृत्त हुए थे जो सर्वथा एकान्तवादके सूत्रसे संचालित होता था। इसीसे महान आचार्य श्रीविद्यानन्द स्वामी-ने युक्त्यनुशासन-टीकाके अन्तमें आपको **'परीक्षेक्षण'**—परीक्षा-नेत्रसे सबको देखनेवाले—लिखा है और अष्टसहस्रीमें आपके वचन-माहात्म्यका बहुत कुछ गौरव ख्यापित करते हुए एक स्थान-पर यह भी लिखा है कि—'स्वामी समन्तभद्रका वह निर्दोष प्रव-चन जयवन्त हो—अपने प्रभावसे लोकहृदयोंको प्रभावित करे—जो नित्यादि एकान्तगर्तोंमें—वस्तु कूटस्थवत् सर्वथा नित्य ही है अथवा क्षण-क्षणमें निरन्वय-विनाशरूप सर्वथा क्षणिक (अनित्य) ही है, इस प्रकारकी मान्यतारूप एकान्त खड्डोंमें पड़नेके लिये विवश हुए प्राणियोंको अनर्थसमूहसे निकालकर मंगलमय उच्च पद प्राप्त करानेके लिए समर्थ है, स्याद्वादन्यायके मार्गको प्रख्यात करनेवाला है, सत्यार्थ है, अलंघ्य है, परीक्षापूर्वक प्रवृत्त हुआ है

अथवा प्रेक्षावान—समीक्ष्यकारी—आचार्य महोदयके द्वारा जिसकी प्रवृत्ति हुई है और जिसने सम्पूर्ण मिथ्याप्रवादको विघटित अथवा तितर बितर कर दिया है।' और दूसरे स्थानपर यह बतलाया है कि—'जिन्होंने परीक्षावानोंके लिये कुनीति और कुप्रवृत्तिरूप—नदियोंको सुखा दिया है, जिनके वचन निर्दोष नीति-स्याद्वादन्यायको लिये हुए होनेके कारण मनोहर हैं तथा तत्त्वार्थ-समूहके संद्योतक हैं वे योगियोंके नायक, स्याद्वादमार्गके अग्रणी नेता, शक्ति-सामर्थ्यसे सम्पन्न-विभु और सूर्यके समान देदीप्यमान-तेजस्वी श्रीस्वामी समन्तभद्र कलुषित-आशय-रहित प्राणियोंको—सज्जनों अथवा सुधीजनोंको—विद्या और आनन्द-घनके प्रदान करनेवाले होवें—उनके प्रसादसे (प्रसन्नतापूर्वक उन्हें चित्तमें धारण करनेसे) सबोंके हृदयमें शुद्धज्ञान और आनन्दकी वर्षा होवे'। साथ ही एक तीसरे स्थानपर यह प्रकट किया है कि—'जिनके नय-प्रमाण-मूलक अलंघ्य उपदेशसे—प्रवचनको सुनकर—महा उद्धतमति वे एकान्तवादी भी प्रायः शान्तताको प्राप्त हो जाते हैं जो कारणसे कार्यादिकका सर्वथा भेद ही नियत मानते हैं अथवा यह स्वीकार करते हैं कि कारण-कार्यादिक सर्वथा अभिन्न ही हैं—एक ही हैं—वे निर्मल तथा विशालकीर्तिसे युक्त अतिप्रसिद्ध योगिराज स्वामी समन्तभद्र सदा जयवन्त रहें—अपने प्रवचनप्रभावसे बराबर लोकहृदयोंको प्रभावित करते रहें।'

इसी तरह विक्रमकी ७वीं शताब्दीके सातिशय विद्वान श्री-अकलंकदेव-जैसे महर्द्धिक आचार्यने, अपनी अष्टशती में, समन्तभद्रको 'भव्यैकलोकनयन'—भव्य जीवोंके हृदयान्धकारको दूर करके अन्तःप्रकाश करने तथा सन्मार्ग दिखलानेवाला अद्वितीय सूर्य—और 'स्याद्वादमार्गका पालक (संरक्षक)' बतलाते हुए

यह भी लिखा है कि—उन्होंने सम्पूर्ण पदार्थ-तत्त्वोंको अपना विषय करनेवाले स्याद्वादरूपी पुण्योदधि-तीर्थको, इस कलिकालमें, भव्यजीवोंके आन्तरिक मलको दूर करनेके लिये प्रभावित किया है—उसके प्रभावको सर्वत्र व्याप्त किया है, और ऐसा लिखकर उन्हें बारबार नमस्कार किया है।

स्वामी समन्तभद्र यद्यपि बहुतसे उत्तमोत्तम गुणोंके स्वामी थे, फिर भी कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व नामके चार गुण आपमें असाधारण कोटिकी योग्यताको लिये हुए थे—ये चारों शक्तियाँ उनमें खास तौरसे विकासको प्राप्त हुई थीं—और इनके कारण उनका निर्मल यश दूर-दूर तक चारों ओर फैल गया था। उस समय जितने 'कवि' थे—नये नये सन्दर्भ अथवा नई नई मौलिक रचनाएँ तय्यार करनेवाले समर्थ विद्वान् थे, 'गमक' थे—दूसरे विद्वानोंकी कृतियोंके मर्म एवं रहस्यको समझने तथा दूसरोंको समझानेमें प्रवीणबुद्धि थे, विजयकी ओर वचन-प्रवृत्ति रखनेवाले 'वादी' थे, और अपनी वाक्पटुता तथा शब्दचातुरीसे दूसरोंको रंजायमान करने अथवा अपना प्रेमी बना लेनेमें निपुण ऐसे 'वाग्मी' थे, उन सबपर समन्तभद्रके यशकी छाया पड़ी हुई थी, वह चूडामणिके समान सर्वोपरि था और बादको भी बड़े-बड़े विद्वानों तथा महान् आचार्योंके द्वारा शिरोधार्य किया गया है। जैसा कि विक्रमकी ६वीं शताब्दीके विद्वान् भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

> कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
> यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ (आदिपुराण)

स्वामी समन्तभद्रके इन चारों गुणोंकी लोकमें कितनी धाक थी, विद्वानोंके हृदय पर इनका कितना सिक्का जमा हुआ था

और वे वास्तवमें कितने अधिक महत्वको लिये हुए थे, इन सब बातोंका कुछ अनुभव करानेके लिये कितने ही प्रमाण-वाक्योंको 'स्वामी समन्तभद्र, नामके उस ऐतिहासिक निबन्धमें संकलित किया गया है जो माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें प्रकाशित हुए रत्नकरण्ड-श्रावकाचारकी विस्तृत प्रस्तावनाके अनन्तर २५२ पृष्ठोंपर जुदा ही अङ्कित है और अलगसे भी विषयसूची तथा अनुक्रमणिकाके साथ प्रकाशित हुआ है। यहाँ संक्षेपमें कुछ थोडासा ही सार[1] दिया जाता है और वह इस प्रकार है:—

(१) भगवज्जिनसेनने, आदिपुराणमें, समन्तभद्रको 'महान् कविवेधा'—कवियोंको उत्पन्न करनेवाला महान् विधाता (ब्रह्मा) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उनके वचनरूपी वज्रपातसे कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गए थे।

(२) वादिराजसूरिने, यशोधरचरितमें,समन्तभद्रको 'काव्यमाणिक्योंका रोहण' (पर्वत) लिखा है और यह भावना की है कि 'वे हमें सूक्तिरत्नोंके प्रदान करनेवाले होवें'।

(३) वादीभसिंह सूरिने, गद्यचिन्तामणिमें, समन्तभद्रमुनीश्वरका जयघोष करते हुए उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द-विहारभूमि' बतलाया है और लिखा है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके निपातसे प्रतिपक्षी सिद्धान्त-रूप पर्वतोंकी चोटियाँ खण्ड-खण्ड हो गई थीं—अर्थात् समन्तभद्रके आगे प्रतिपक्षी सिद्धान्तोंका प्राय: कुछ भी मूल्य या गौरव नहीं रहा था और न उनके प्रतिपादक प्रतिवादीजन ऊँचा मुँह करके ही सामने खड़े हो सकते थे।'

---

१. इस सारके अधिकांश मूल वाक्योंका परिचय 'सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ' के अन्तर्गत 'समन्तभद्र-स्मरण' नामक प्रकरणसे भी प्राप्त किया जा सकता है।

(४) वर्द्धमानसूरिने, वराङ्गचरितमें, समन्तभद्रको 'महाकवीश्वर' 'कुवादिविद्या-जय-लब्ध-कीर्ति' और 'सुतर्कशास्त्रामृत-सारसागर' लिखा है और यह प्रार्थना की है कि 'वे मुझ कवित्व-कांक्षी पर प्रसन्न होवें—उनकी विद्या मेरे अन्तःकरणमें स्फुरायमान होकर मुझे सफल-मनोरथ करे।'

(५) श्री शुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवमें, यह प्रकट किया है कि 'समन्तभद्र जैसे कवीन्द्र-सूर्योंकी जहां निर्मलसूक्तिरूप किरणें स्फुरायमान हो रही हैं वहां वे लोग खद्योत-जुगनूँकी तरह हँसीके ही पात्र होते हैं जो थोड़ेसे ज्ञानको पाकर उद्धत हैं—कविता (नूतन संदर्भकी रचना) करके गर्व करने लगते हैं।'

(६) भट्टारक सकलकीर्तिने, पार्श्वनाथचरितमें, लिखा है कि 'जिनकी वाणी (ग्रन्थादिरूप भारती) संसारमें सब ओरसे मंगलमय है और सारी जनताका उपकार करनेवाली है उन कवियोंके ईश्वर समन्तभद्रको सादर वन्दन (नमस्कार) करता हूँ।'

(७) ब्रह्मअजितने, हनुमच्चरितमें, समन्तभद्रको 'दुर्वादियोंकी वादरूपी खाज-खुजलीको मिटानेके लिये अद्वितीय 'महौषधि' बतलाया है।

(८) कवि दामोदरने, चन्द्रप्रभचरितमें, लिखा है कि 'जिनकी भारती के प्रतापसे—ज्ञानभण्डाररूप मौलिक कृतियोंके अभ्याससे—समस्त कविसमूह सम्यग्ज्ञानका पारगामी हो गया उन कविनायक—नई नई मौलिक रचनाएँ करने वालोंके शिरोमणि—योगी समन्तभद्रकी मैं स्तुति करता हूँ।'

(९) वसुनन्दी आचार्यने, स्तुतिविद्याकी टीकामें, समन्तभद्रको

'सद्बोधरूप'—सम्यग्ज्ञानकी-मूर्ति—और 'वरगुणालय'—उत्तम-गुणोंका आवास—बतलाते हुए यह लिखा है कि 'उनके निर्मल-यशकी कान्तिसे ये तीनों लोक अथवा भारतके उत्तर, दक्षिण और मध्य ये तीनों प्रदेश कान्तिमान थे—उनका यशस्तेज सर्वत्र फैला हुआ था।'

(१०) विजयवर्णीने, शृङ्गारचन्द्रिकामें, समन्तभद्रको 'महा-कवीश्वर' बतलाते हुए लिखा है कि 'उनके द्वारा रचे गये प्रबन्ध-समूहरूप सरोवरमें, जो रसरूप जल तथा अलङ्काररूप कमलोंसे सुशोभित है और जहाँ भावरूप हँस विचरते हैं, सरस्वती-क्रीडा किया करती है'—सरस्वती देवीके क्रीडास्थल (उपाश्रय) होनेसे समन्तभद्रके सभी प्रबन्ध (ग्रन्थ) निर्दोष, पवित्र एवं महती शोभासे सम्पन्न हैं।'

(११) अजितसेनाचार्यने, अलङ्कारचिन्तामणिमें, कई पुरा-तन पद्य ऐसे संकलित किये हैं जिनमें समन्तभद्रके वाद-माहा-त्म्यका कितना ही पता चलता है। एक पद्यसे मालूम होता है कि 'समन्तभद्रकालमें कुवादीजन प्रायः अपनी स्त्रियोंके सामने तो कठोर भाषण किया करते थे—उन्हें अपनी गर्वोक्तियां अथवा बहादुरीके गीत सुनाते थे—परन्तु जब योगी समन्तभद्रके सामने आते थे तो मधुरभाषी बनजाते थे और उन्हें 'पाहि पाहि'—रक्षा करो रक्षा करो अथवा आप ही हमारे रक्षक हैं—ऐसे सुन्दर मृदुल वचन ही कहते बनता था।' और यह सब समन्तभद्रके असाधारण-व्यक्तित्वका प्रभाव था।

दूसरे पद्यसे यह जाना जाता है कि 'जब महावादी श्रीसमन्त-भद्र (सभास्थान आदिमें) आते थे तो कुवादीजन नीचामुख करके अँगूठोंसे पृथ्वी कुरेदने लगते थे अर्थात् उन लोगों पर—

प्रतिवादियोंपर—समन्तभद्रका इतना प्रभाव पड़ता था कि वे उन्हें देखते ही विषण्णवदन हो जाते और किंकर्तव्यविमूढ बन जाते थे।'

और एक तीसरे पद्यमें यह बतलाया गया है कि—'वादी-समन्तभद्रकी उपस्थितिमें, चतुराईके साथ स्पष्ट शीघ्र और बहुत बोलने वाले धूर्जटिकी—तन्नामक महाप्रतिवादी विद्वानकी—जिह्वा ही जब शीघ्र अपने बिलमें घुसजाती है—उसे कुछ बोल नहीं आता—तो फिर दूसरे विद्वानोंकी तो कथा (बात) ही क्या है ? उनका अस्तित्व तो समन्तभद्रके सामने कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। वह पद्य, जो कविहस्तमल्लके 'विक्रान्तकौरव' नाटकमें भी पाया जाता है, इस प्रकार है—

अवटु-तटमटति झटिति स्फुट-पटु-वाचाट-धूर्जटेर्जिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथाऽन्येषाम् ॥

यह पद्य शकसंवत १०५० में उत्कीर्ण हुए श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में भी थोड़ेसे पाठभेदके साथ उपलब्ध होता है। वहां 'धूर्जटेर्जिह्वा' के स्थानपर 'धूर्जटेरपि जिह्वा' और 'सति का कथाऽन्येषां' की जगह 'तव सदसि भूप ! कास्थाऽन्येषां' पाठ दिया है, और इसे समन्तभद्रके वादारम्भ-समारम्भ-समयकी उक्तियोंमें शामिल किया है। पद्यके उसरूपमें धूर्जटिके निरुत्तर होनेपर अथवा धूर्जटिकी गुरुतर पराजयका उल्लेख करके राजासे पूछा गया है कि 'धूर्जटि-जैसे विद्वानकी ऐसी हालत होनेपर अब आपकी सभाके दूसरे विद्वानोंकी क्या आस्था है ? क्या उनमेंसे कोई वाद करनेकी हिम्मत रखता है' ?

(१२) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रका

जयघोष करते हुए उनके सूक्तिसमूहको—सुन्दर प्रौढ युक्तियोंको लिये हुए प्रवचनको—वादीरूपी हाथियोंको वशमें करनेके लिये 'वज्रांकुश' बतलाया है और साथ ही यह लिखा है कि 'उनके प्रभावसे यह सम्पूर्ण पृथ्वी एक बार दुर्वादुकोंकी वार्तासे भी विहीन होगई थी—उनकी कोई बात भी नहीं करता था।'

(१३) श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०८ में भद्रमूर्ति-समन्तभद्रको जिनशासनका प्रणेता (प्रधान नेता) बतलाते हुए यह भी प्रकट किया है कि 'उनके वचनरूपी वज्रके कठोरपातसे प्रतिवादीरूप पर्वत चूर चूर हो गये थे—कोई भी प्रतिवादी उनके सामने नहीं ठहरता था।'

(१४) तिरुमकूडलुनरसीपुरके शिलालेख नं० १०५ में समन्तभद्रके एक वादका उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'जिन्होंने वाराणसी (बनारस) के राजाके सामने विद्वेषियोंको—अनेकान्त-शासनसे द्वेष रखनेवाले सर्वथा एकान्तवादियोंको—पराजित कर दिया था, वे समन्तभद्र मुनीश्वर किसके स्तुतिपात्र नहीं हैं ?—सभीके द्वारा भले प्रकार स्तुति किये जानेके योग्य हैं।'

(१५) समन्तभद्रके गमकत्व और वाग्मित्व-जैसे गुणोंका विशेष परिचय उनके देवागमादि ग्रन्थोंका अवलोकन करनेसे भले प्रकार अनुभवमें लाया जा सकता है तथा उन उल्लेख-वाक्योंपरसे भी कुछ जाना जा सकता है जो समन्तभद्र-वाणीका कीर्तन अथवा उसका महत्त्व ख्यापन करनेके लिये लिखे गये हैं। ऐसे उल्लेख-वाक्य अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें बहुत पाये जाते हैं। कवि नागराजका 'समन्तभद्र-भारती-स्तोत्र' तो इसी विषयको लिये हुए है और वह 'सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ' में वीरसेवामन्दिरसे सानुवाद प्रकाशित हो चुका है। यहां दो तीन उल्लेखोंका और

सूचन किया जाता है, जिससे समन्तभद्रकी गमकत्वादि-शक्तियों और उनके वचनमाहात्म्यका और भी कुछ पता चल सके—

(क) श्रीवादिराजसूरिने, न्यायविनिश्चयालङ्कारमें, लिखा है कि 'सर्वत्र फैले हुए दुर्नयरूपी प्रबल अन्धकारके कारण जिसका तत्त्व लोकमें दुर्बोध हो रहा है—ठीक समझमें नहीं आता—वह हितकारी वस्तु—प्रयोजनभूत जीवादि-पदार्थमाला—श्रीसमन्तभद्रके वचनरूप देदीप्यमान रत्नदीपकोंके द्वारा हमें सब ओरसे चिरकाल तक स्पष्ट प्रतिभासित होवे—अर्थात् स्वामी समन्तभद्रका प्रवचन उस महाजाज्वल्यमान रत्नसमूहके समान है जिसका प्रकाश अप्रतिहत होता है और जो संसारमें फैले हुए निरपेक्ष-नयरूपी महामिथ्यान्धकारको दूर करके वस्तुतत्त्वको स्पष्ट करनेमें समर्थ है, उसे प्राप्त करके हम अपना अज्ञान दूर करें।'

(ख) श्रीवीरनन्दी आचार्यने, चन्द्रप्रभचरित्रमें, लिखा है कि 'गुणोंसे—सूतके धागोंसे—गूँथी हुई निर्मल गोल मोतियोंसे युक्त और उत्तम पुरुषोंके कण्ठका विभूषण बनी हुई हारयष्टिको—श्रेष्ठ मोतियोंकी मालाको—प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन कि समन्तभद्रकी भारती (वाणी) को पा लेना—उसे खूब समझकर हृदयङ्गम कर लेना है, जो कि सद्गुणोंको लिये हुए है, निर्मल वृत्त (वृत्तान्त, चरित्र, आचार, विधान तथा छन्द) रूपी मुक्ताफलोंसे युक्त है और बड़े-बड़े आचार्यों तथा विद्वानोंने जिसे अपने कण्ठका आभूषण बनाया है—वे नित्य ही उसका उच्चारण तथा पाठ करनेमें अपना गौरव मानते और अहोभाग्य समझते रहे हैं। अर्थात् समन्तभद्रकी वाणी परम दुर्लभ है—उनके सातिशय वचनोंका लाभ बड़े ही भाग्य तथा परिश्रमसे होता है।'

(ग) श्रीनरेन्द्रसेनाचार्य, सिद्धान्तसारसंग्रहमें, यह प्रकट करते हैं कि 'श्रीसमन्तभद्रदेवका निर्दोष प्रवचन प्राणियोंके लिये ऐसा ही दुर्लभ है जैसा कि मनुष्यत्वका पाना—अर्थात् अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणियोंको जिस प्रकार मनुष्यभव-का मिलना दुर्लभ होता है उसी प्रकार समन्तभद्रदेवके प्रवचनका लाभ होना भी दुर्लभ है, जिन्हें उसकी प्राप्ति होती है वे निःसन्देह सौभाग्यशाली हैं।'

ऊपरके इन सब उल्लेखोंपरसे समन्तभद्रकी कवित्वादि शक्तियोंके साथ उनकी वादशक्तिका जो परिचय प्राप्त होता है उससे सहज ही यह समझमें आ जाता है कि वह कितनी असा-धारण कोटिकी तथा अप्रतिहत-वीर्य थी और दूसरे विद्वानोंपर उसका कितना अधिक सिक्का तथा प्रभाव था, जो अभी तक भी अक्षुण्णरूपसे चला जाता है—जो भी निष्पक्ष विद्वान आपके वादों अथवा तर्कोंसे परिचित होता है वह उनके सामने नत-मस्तक हो जाता है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि समन्तभद्रका वाद-क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने उसी देशमें अपने वादकी विजयदुन्दुभि नहीं बजाई जिसमें वे उत्पन्न हुए थे, बल्कि उनकी वाद-प्रीति, लोगोंके अज्ञानभावको दूर करके उन्हें सन्मार्गकी ओर लगानेकी शुभभावना और जैन सिद्धान्तोंके महत्वको विद्वानोंके हृदय-पटलपर अंकित कर देनेकी सुरुचि इतनी बढ़ी हुई थी कि उन्होंने सारे भारतवर्षको अपने वादका लीला-स्थल बनाया था। वे कभी इस बातकी प्रतीक्षामें नहीं रहते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिए निमंत्रण दे और न उनकी मनःपरिणति उन्हें इस बातमें सन्तोष करनेकी ही इजाज़त देती थी कि जो लोग अज्ञानभावसे मिथ्यात्वरूपी गर्तों

(खड्डों) में गिरकर अपना आत्मपतन कर रहे हैं उन्हें वैसा करने दिया जाय। और इसलिये उन्हें जहां कहीं किसी महावादी अथवा किसी बड़ी वादशालाका पता चलता था तो वे वहीं पहुँच जाते थे और अपने वादका डंका[१] बजाकर विद्वानोंको स्वतः वादके लिये आह्वान करते थे। डंकेको सुनकर वादीजन, यथा नियम, जनताके साथ वादस्थानपर एकत्र हो जाते थे और तब समन्तभद्र उनके सामने अपने सिद्धान्तोंका बड़ी ही खूबीके साथ विवेचन करते थे और साथ ही इस बातकी घोषणा कर देते थे कि उन सिद्धान्तोंमेंसे जिस किसी सिद्धान्तपर भी किसीको आपत्ति हो वह वादके लिये सामने आ जाय। कहते हैं कि समन्तभद्रके स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए तत्त्वभाषणको सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे और उन्हें उसका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था। यदि कभी कोई भी मनुष्य अहंकारके वश होकर अथवा नासमझीके कारण कुछ विरोध खड़ा करता था तो उसे शीघ्र ही निरुत्तर हो जाना पड़ता था।

इस तरह, समन्तभद्र भारत के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, प्रायः सभी देशों में, एक अप्रतिद्वंद्वी सिंह के समान क्रीडा करते हुए, निर्भयताके साथ वादके लिये घूमे हैं। एक बार आप घूमते

१ उन दिनों—समन्तभद्रके समयमें—फाहियान (ई० ४००) और ह्वेनत्सग (ई० ६३०) के कथनानुसार, यह दस्तूर था कि नगरमें किसी सार्वजनिक स्थानपर एक डंका (भेरी या नक्कारा) रक्खा जाता था और जो कोई विद्वान् किसी मतका प्रचार करना चाहता था अथवा वादमें अपने पाण्डित्य और नैपुण्यको सिद्ध करनेकी इच्छा रखता था तो वह वाद-घोषणाके रूपमें उस डंकेको बजाता था।

—हिस्ट्री आफ् कनडीज़ लिटरेचर

हुए 'करहाटक' नगर में भी पहुँचे थे, जो उस समय बहुतसे भटों-से युक्त था, विद्याका उत्कट स्थान था और साथ ही अल्प विस्तारवाला अथवा जनाकीर्ण था। उस वक्त आपने वहाँके राजापर अपने वाद-प्रयोजनको प्रकट करते हुए, उन्हें अपना तद्विषयक जो परिचय एक पद्यमें दिया था वह श्रवणबेल्गोल-के शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकारसे संग्रहीत है—

पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं॥

इस पद्यमें दिये हुए आत्मपरिचयसे यह मालूम होता है कि करहाटक पहुँचने से पहले समन्तभद्रने जिन देशों तथा नगरों-में वादके लिये विहार किया था उनमें पाटलिपुत्रनगर, मालव (मालवा) सिन्धु, ठक्क (पंजाब) देश, कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (भिलसा) ये प्रधान देश तथा जनपद थे जहाँ उन्होंने वादकी भेरी बजाई थी और जहाँ पर प्रायः किसी ने भी उनका विरोध नहीं किया था।[1]

१ समन्तभद्रके इस देशाटनके सम्बन्धमें मिस्टर एम० एस० रामस्वामी आय्यंगर अपनी 'स्टडीज़ इन साउथ इन्डियन जैनिज़्म' नामकी पुस्तक में लिखते हैं—

'यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े जैनधर्मप्रचारक थे, जिन्होंने जैनसिद्धान्तों और जैन आचारोंको दूर दूर तक विस्तारके साथ फैलानेका उद्योग किया है, और यह कि जहां कहीं वे गये हैं उन्हें दूसरे

यहाँ तकके इस सब परिचय पर से स्वामी समन्तभद्रके असाधारण गुणों, उनके अनुपम प्रभाव और लोकहितकी भावनाको लेकर धर्मप्रचारके लिये उनके सफल देशाटनादिका कितना ही हाल तो मालूम हो गया; परन्तु अभी तक यह मालूम नहीं हो सका कि समन्तभद्रके पास वह कौनसा मोहन-मंत्र था जिसके कारण वे सदा इस बातके लिये भाग्यशाली रहे हैं कि विद्वान लोग उनकी वाद-घोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणोंको चुपकेसे सुन लेते थे और उन्हें उनका प्रायः कोई विरोध करते नहीं बनता था। वादका तो नाम ही ऐसा है जिससे चाहे-अनचाहे विरोधकी आग भड़कती है, लोग अपनी मान-रक्षाके लिये, अपने पक्षको निर्बल समझते हुए भी, उसका समर्थन करनेके लिये खड़े हो जाते हैं और दूसरेकी युक्तियुक्त बातको भी मानकर नहीं देते; फिर भी समन्तभद्रके साथमें यह सब प्रायः कुछ भी नहीं होता था, यह क्यों ?—अवश्य ही इसमें कोई खास रहस्य है, जिसके प्रकट होनेकी जरूरत है और जिसको जाननेके लिये पाठक भी उत्सुक होंगे।

जहाँ तक मैंने इस विषयकी जाँच की है—इस मामले पर गहरा विचार किया है—और मुझे समन्तभद्रके साहित्यादिक-परसे उसका विशेष अनुभव हुआ है उसके आधारपर मुझे इस बातके कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि समन्तभद्र-की इस सारी सफलताका रहस्य उनके अन्तःकरणकी शुद्धता, चरित्र की निर्मलता और उनकी वाणी के महत्व में संनिहित है,

---

सम्प्रदायोंकी तरफसे किसी भी विरोधका सामना करना नहीं पड़ा (He met with no opposition from other sects wherever he went)।

अथवा यों कहिये कि यह सब अन्तःकरणकी पवित्रता तथा चरित्र की शुद्धताको लिये हुए उनके वचनोंका ही महात्म्य है जो वे दूसरों पर अपना इस प्रकार सिक्का जमासके हैं। समन्तभद्रकी जो कुछ भी वचन-प्रवृत्ति होती थी वह सब प्रायः दूसरोंकी हित-कामनाको ही साथमें लिये हुए होती थी। उसमें उनके लौकिक स्वार्थकी अथवा अपने अहंकारको पुष्ट करने और दूसरोंको नीचा दिखाने रूप कुत्सित भावनाकी गन्ध तक भी नहीं रहती थी। वे स्वयं सन्मार्गपर आरूढ थे और चाहते थे कि दूसरे लोग भी सन्मार्गको पहिचानें और उसपर चलना आरम्भ करें। साथ ही, उन्हें दूसरोंको कुमार्गमें फँसा हुआ देखकर बड़ा ही खेद तथा कष्ट होता था[1]। और इसलिये उनका वाक्प्रयत्न सदा उनकी इच्छा के अनुकूल ही रहता था और वे उसके द्वारा ऐसे लोगोंके उद्धारका अपनी शक्तिभर प्रयत्न किया करते थे। ऐसा मालूम होता है कि स्वात्म-हित-साधनके बाद दूसरोंका हित-

---

१ आपके इस खेदादिको प्रकट करने वाले तीन पद्य, नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा! प्रपातः ॥३६॥
स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम्।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत! विभ्रमन्ति ॥३७

—युक्त्यनुशासन

इन पद्यों का आशय उस अनुवादादिक परसे जानना चाहिये जो ग्रन्थमें आठ पृष्ठों पर दिया है।

साधन करना ही उनके लिये एक प्रधान कार्य था और वे बड़ी योग्यताके साथ उनका सम्पादन करते थे। उनकी वाक्परिणति सदा क्रोधसे शून्य रहती थी, वे कभी किसीको अपशब्द नहीं कहते थे और न दूसरोंके अपशब्दोंसे उनकी शान्ति भंग होती थी। उनकी आँखोंमें कभी सुर्खी नहीं आती थी; वे हमेशा हँसमुख तथा प्रसन्नवदन रहते थे। बुरी भावनासे प्रेरित होकर दूसरोंके व्यक्तित्वपर कटाक्ष करना उन्हें नहीं आता था और मधुर भाषण तो उनकी प्रकृति में ही दाखिल था। यही वजह थी कि कठोर भाषण करने वाले भी उनके सामने आकर मृदुभाषी बन जाते थे; अपशब्द-मदान्धोंको भी उनके आगे बोल तक नहीं आता था और उनके 'वज्रपात' तथा 'वज्रांकुश' की उपमाको लिये हुए वचन भी लोगोंको अप्रिय मालूम नहीं होते थे।

समन्तभद्रके वचनोंमें एक खास विशेषता यह भी होती थी कि वे स्याद्वाद-न्यायकी तुलामें तुले हुए होते थे और इसलिये उनपर पक्षपातका भूत कभी सवार होने नहीं पाता था। समन्तभद्र स्वयं परीक्षा-प्रधानी थे, वे कदाग्रह को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे; उन्होंने सर्वज्ञवीतराग भगवान महावीर तककी परीक्षा की है और तभी उन्हें 'आप्त' रूपमें स्वीकार किया है। वे दूसरोंको भी परीक्षाप्रधानी होनेका उपदेश देते थे—सदैव उनकी यही शिक्षा रहती थी कि किसी भी तत्त्व अथवा सिद्धान्तको, बिना परीक्षा किये, केवल दूसरोंके कहनेपर ही न मान लेना चाहिये बल्कि समर्थ-युक्तियोंके द्वारा उसकी अच्छी तरहसे जाँच करनी चाहिये—उसके गुण-दोषोंका पता लगाना चाहिये—और तब उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना चाहिये। ऐसी हालतमें वे अपने किसी भी सिद्धान्तको जबरदस्ती दूसरोंके गले उतारने अथवा उनके सिर मँढनेका कभी यत्न नहीं करते थे। वे विद्वानों

को, निष्पक्षदृष्टिसे, स्व-पर-सिद्धान्तोंपर खुला विचार करनेका पूरा अवसर देते थे। उनकी सदैव यह घोषणा रहती थी कि किसी भी वस्तुको एक ही पहलूसे—एक ही ओरसे—मत देखो, उसे सब ओरसे और सब पहलुओंसे देखना चाहिये, तभी उसका यथार्थज्ञान हो सकेगा। प्रत्येक वस्तुमें अनेक धर्म अथवा अङ्ग होते हैं—इसीसे वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसके किसी एक धर्म या अङ्गको लेकर सर्वथा उसी रूपसे वस्तुका प्रतिपादन करना 'एकान्त' है और यह एकान्तवाद मिथ्या है, कदाग्रह है, तत्त्वज्ञानका विरोधी है, अधर्म है और अन्याय है। स्याद्वादन्याय इसी एकान्तवादका निषेध करता है—सर्वथा सत्-असत्-एक अनेक-नित्य-अनित्यादि संपूर्ण एकान्तोंसे विपक्षीभूत अनेकान्त-तत्त्व ही उसका विषय[1] है।

अपनी घोषणाके अनुसार, समन्तभद्र प्रत्येक विषयके गुण दोषोंको स्याद्वाद-न्यायकी कसौटी पर कसकर विद्वानोंके सामने रखते थे, वे उन्हें बतलाते थे कि एक ही वस्तुतत्त्वमें अमुक अमुक एकान्तपक्षोंके माननेसे क्या क्या अनिवार्य दोष आते हैं और वे दोष स्याद्वाद-न्यायको स्वीकार करनेपर अथवा अनेकान्तवादके प्रभावसे किस प्रकार दूर हो जाते हैं और किस तरहपर वस्तुतत्त्वका सामंजस्य ठीक बैठ जाता है[2]। उनके समझानेमें दूसरोंके प्रति तिरस्कारका कोई भाव नहीं होता था। वे एक मार्ग भूले हुए को मार्ग दिखानेकी तरह प्रेमके साथ उन्हें उनकी त्रुटियोंका बोध

१ सर्वथासदसदेकानेक-नित्यादि-सकलैकान्त-प्रत्यनीकाऽनेकान्त-तत्त्व-विषयः स्याद्वादः। —देवागमवृत्तिः

२ इस विषयका अच्छा अनुभव प्राप्त करनेके लिये समन्तभद्रका 'देवागम' ग्रन्थ देखना चाहिये, जिसे 'आप्तमीमांसा' भी कहते हैं।

कराते थे, और इससे उनके भाषणादिकका दूसरोंपर अच्छा ही प्रभाव पड़ता था—उनके पास उसके विरोधका कुछ भी कारण नहीं रहता था। यही वजह थी और यही सब वह मोहन-मंत्र था जिससे समन्तभद्रको दूसरे सम्प्रदायोंकी ओरसे किसी खास विरोधका सामना प्रायः नहीं करना पड़ा और उन्हें अपने उद्देश्यमें भारी सफलताकी प्राप्ति हुई।

समन्तभद्रकी इस सफलताका एक समुच्चय उल्लेख श्रवण-बेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) में, जिसे 'मल्लिषेणप्रशस्ति' भी कहते हैं, और जो शक संवत् १०५० में उत्कीर्ण हुआ है उसमें निम्न प्रकारसे पाया जाता है और उससे यह मालूम होता है कि 'मुनिसंघके नायक आचार्य समन्तभद्रके द्वारा सर्वहितकारी जैनमार्ग इस कलिकालमें पुनः सब ओरसे भद्ररूप हुआ है—उसका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त होनेसे वह सबका हितकरनेवाला और सबका प्रेमपात्र बना है' :—

वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपद-स्वमन्त्र-वचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः।
आचार्यस्स समन्तभद्र-गणभृद्येनेह काले कलौ
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः॥

इस पद्यके पूर्वार्धमें समन्तभद्रके जीवनकी कुछ खास घटनाओंका उल्लेख है और वे हैं—१ घोर तपस्या करते समय शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति, २ उस व्याधिकी बड़ी बुद्धिमत्ताके साथ शान्ति, ३ पद्मावती नामकी दिव्यशक्तिके द्वारा समन्तभद्रको उदात्त (ऊँचे) पदकी प्राप्ति और ४ अपने मन्त्ररूप वचन-बलसे अथवा योग-सामर्थ्यसे चन्द्रप्रभ-बिम्बकी आकृष्टि।

ये सब घटनाएँ बड़ी ही हृदयद्रावक हैं, उनके प्रदर्शन और विवेचनका इस संक्षिप्त परिचयमें अवसर नहीं है और इसलिये उन्हें 'समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल' नामक उस निबन्धसे जानना चाहिये जो 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहासमें ४२ पृष्ठों पर इन पंक्तियोंके लेखक-द्वारा लिखा गया है।

समन्तभद्रकी सफलताका दूसरा समुच्चय उल्लेख बेलूरतालुके-के कनड़ी शिलालेख नं० १७ (E. C. V) में पाया जाता है, जो रामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायकी मन्दिरकी छतके एक पत्थरपर उत्कीर्ण है और जिसमें उसके उत्कीर्ण होनेका समय शक संवत १०५९ दिया है। इस शिलालेखमें ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि श्रुतकेवलियों तथा और भी कुछ आचार्योंके बाद समन्तभद्र स्वामी श्रीवर्द्धमान महावीरस्वामीके तीर्थकी—जैनमार्गकी—सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए हैं—

"श्रीवर्द्धमानस्वामिगलु तीर्त्थदोलु केवलिगलु ऋद्धि-प्राप्तरुं श्रुतकेवलिगलुं पलरुं सिद्धसाध्यर् तत्···(ती) र्त्थ्यमं सहस्रगुणं माडि समन्तभद्रस्वामिगलु सन्दर···।"

वीरजिनेन्द्रके तीर्थकी अपने कलियुगी समयमें हजारगुणी वृद्धि करनेमें समर्थ होना यह कोई साधारण बात नहीं है। इससे समन्तभद्रकी असाधारण सफलता और उसके लिये उनकी अद्वितीय योग्यता, भारी विद्वत्ता एवं बेजोड क्षमताका पता चलता है। साथ ही, उनका महान व्यक्तित्व मूर्तिमान होकर सामने आजाता है। यही वजह है कि अकलंकदेव-जैसे महान प्रभावक आचार्यने 'तीर्थं प्राभावि काले कलौ'-जैसे शब्दों-द्वारा, कलिकालमें समन्तभद्रकी इस तीर्थ-प्रभावनाका उल्लेख बड़े

गौरवके साथ किया है; यही कारण है कि श्रीजिनसेनाचार्य समन्तभद्रके वचनोंको वीरभगवानके वचनोंके समान प्रकाश-मान (प्रभावादिसे युक्त) बतला रहे हैं। और शिवकोटि आचार्यने रत्नमालामें. 'जिनराजोद्यच्छासनाम्बुधिचन्द्रमाः' पदके द्वारा समंतभद्रको भगवान् महावीरके ऊँचे उठते हुए शासन-समुद्रको बढ़ाने वाला चन्द्रमा लिखा है अर्थात् यह प्रकट किया है कि समन्तभद्रके उदयका निमित्त पाकर वीरभगवानका तीर्थसमुद्र खूब वृद्धिको प्राप्त हुआ है और उसका प्रभाव सर्वत्र फैला है। इसके सिवाय, अकलङ्कदेवसे भी पूर्ववर्ती महान् विद्वानाचार्य श्रीसिद्धसेनने, 'स्वयम्भूस्तुति' नामकी प्रथम द्वात्रिंशिकामें. 'अनेन सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः'—जैसे वाक्यके द्वारा समन्तभद्रका 'सर्वज्ञपरीक्षणक्षम' (सर्वज्ञ आप्तकी परीक्षा करनेमें समर्थ पुरुष) के रूपमें उल्लेख करते हुए और उन्हें बड़े प्रसन्नचित्तसे वीरभगवानमें स्थित हुआ बतलाते हुए, अगले एक पद्यमें वीरके उस यशकी मात्राका बड़े ही गौरवके साथ उल्लेख किया है जो उन 'अलब्धनिष्ठ' और 'प्रसमिद्ध-चेता' विशेषणोंके पात्र समन्तभद्र जैसे प्रशिष्योंके द्वारा प्रथित किया गया है।

अब मैं. संक्षेपमें ही इतना और बतला देना चाहता हूँ कि

---

१. 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते।'—हरिवंशपुराण

२. अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः।
न तावदप्येकसमूह-संहताः प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः ॥ १५ ॥
सिद्धसेन-द्वारा समन्तभद्रके इस उल्लेखका विशेष परिचय प्राप्त करनेके लिये देखो, 'पुरातन-जैनवाक्य-सूची' की प्रस्तावनामें प्रकाशित 'सन्मतिसूत्र और सिद्धसेन' नामका बृहत् निबन्ध पृ० १५४।

स्वामी समन्तभद्र एक क्षत्रिय-वंशोद्भव राजपुत्र थे; उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत 'उरगपुर' के राजा थे[1]। वे जहाँ क्षत्रियोचित तेजसे प्रदीप्त थे वहाँ आत्महित-साधना और लोकहितकी भावनासे भी ओत-प्रोत थे, और इसलिये घर-गृहस्थीमें अधिक समय तक अटके नहीं रहे थे। वे राज्य-वैभवके मोहमें न फँसकर घरसे निकल गये थे, और कांची (दक्षिणकाशी) में जाकर 'नग्नाटक' (नग्न) दिगम्बर साधु बन गये थे। उन्होंने एक परिचयपद्यमें अपनेको काँचीका 'नग्नाटक' प्रकट किया है और साथ ही 'निर्ग्रन्थजैनवादी' भी लिखा है—भले ही कुछ परिस्थितियोंके वश वे कतिपय स्थानोंपर दो एक दूसरे साधु-वेष भी धारण करनेके लिये बाध्य हुए हैं, जिनका पद्यमें उल्लेख है, परन्तु वे सब अस्थायी थे और उनसे उनके मूलरूपमें, कर्दमाक्त-मणिके समान, कोई अन्तर नहीं पड़ा था—वे अपनी श्रद्धा और संयम-भावनामें बराबर अडोल रहे हैं। वह पद्य इस प्रकार है—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः
पुण्ड्रोड्रे शाक्यभिक्षुः[2] दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्याऽस्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

---

१ 'जैसा कि उनकी 'आप्तमीमाँसा' कृतिकी एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिके निम्न पुष्पिका-वाक्यसे जाना जाता है, जो श्रवणबेल्गोलके श्रीदौर्बलिजिनदास शास्त्रीके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है—

'इति श्रीफणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिपसूनोः श्रीस्वामिसमन्तभद्र-मुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्।'

२ यह पद अग्रोल्लेखित जीर्णगुटकेके अनुसार 'शाकभक्षी' है।

यह पद्य भी 'पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता' नाम-के परिचय-पद्यकी तरह किसी राजसभामें ही अपना परिचय देते हुए कहा गया है और इसमें भी वादके लिये विद्वानोंको ललकारा गया है और कहा गया है कि 'हे राजन्! मैं तो वास्तवमें जैननिर्ग्रन्थ वादी हूँ, जिस किसीकी भी मुझसे वाद करनेकी शक्ति हो वह सामने आकर वाद करे।'

पहलेसे समन्तभद्रके उक्त दो ही पद्य आत्मपरिचयको लिये हुए मिल रहे थे; परन्तु कुछ समय हुआ, 'स्वयम्भूस्तोत्र' की प्राचीन प्रतियोंको खोजते हुए, देहली-पंचायतीमन्दिरके एक अति जीर्ण-शीर्ण गुटके परसे मुझे एक तीसरा पद्य भी उपलब्ध हुआ है, जो स्वयम्भूस्तोत्रके अन्तमें उक्त दोनों पद्योंके अनन्तर संग्रहीत है और जिसमें स्वामीजीके परिचय-विषयक दस विशेषण उपलब्ध होते हैं और वे हैं—१ आचार्य, २ कवि, ३ वादिराट्, ४ पण्डित (गमक), ५ दैवज्ञ (ज्योतिर्विद्) ६ भिषक् (वैद्य), ७ मान्त्रिक (मन्त्रविशेषज्ञ), ८ तान्त्रिक (तन्त्रविशेषज्ञ), ९ आज्ञासिद्ध और १० सिद्धसारस्वत। वह पद्य इस प्रकार है:—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥३॥

यह पद्य बड़े ही महत्त्वका है। इसमें वर्णित प्रथम तीन विशेषण—आचार्य, कवि और वादिराट्—तो पहलेसे परिज्ञात हैं—अनेक पूर्वाचार्योंके ग्रन्थों तथा शिलालेखोंमें इनका उल्लेख

मिलता है। चौथा 'पण्डित' विशेषण आजकलके व्यवहारमें 'कवि' विशेषणकी तरह भले ही कुछ साधारण समझा जाता हो परन्तु उस समय कविके मूल्य की तरह उसका भी बड़ा मूल्य था और वह प्रायः 'गमक' (शास्त्रोंके मर्म एवं रहस्यको समझने और दूसरोंको समझानेमें निपुण) जैसे विद्वानोंके लिये प्रयुक्त होता था। अतः यहां गमकत्व-जैसे गुणविशेषका ही वह द्योतक है। शेष सब विशेषण इस पद्यके द्वारा प्रायः नये ही प्रकाशमें आए हैं और उनसे ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र और तन्त्र जैसे विषयोंमें भी समन्तभद्रकी निपुणताका पता चलता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अङ्गहीन सम्यग्दर्शनको जन्मसन्ततिके छेदनमें असमर्थ बतलाते हुए, जो विषवेदनाके हरनेमें न्यूनाक्षरमंत्रकी असमर्थताका उदाहरण दिया है वह और शिलालेखों तथा ग्रन्थोंमें **'स्वमन्त्रवचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभः'**-जैसे विशेषणोंका जो प्रयोग पाया जाता है वह सब भी आपके मन्त्र-विशेषज्ञ तथा मन्त्रवादी होनेका सूचक है। अथवा यों कहिये कि आपके 'मान्त्रिक' विशेषणसे अब उन सब कथनोंकी यथार्थताको अच्छा पोषण मिलता है। इधर ९वीं शताब्दीके विद्वान उग्रादित्याचार्यने अपने 'कल्याणकारक' वैद्यक ग्रन्थमें 'अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरवचो विभवैर्विशेषात्' इत्यादि पद्य-(२०-८६) के द्वारा समन्तभद्रकी अष्टाङ्गवैद्यक-विषयपर विस्तृत रचनाका जो उल्लेख किया है उसको ठीक बतलानेमें 'भिषक्' विशेषण अच्छा सहायक जान पड़ता है।

अन्तके दो विशेषण **'आज्ञासिद्ध'** और **'सिद्धसारस्वत'** तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और उनसे स्वामी समन्तभद्रका असाधारण व्यक्तित्व बहुत कुछ सामने आजाता है। इन विशेषणोंको प्रस्तुत करते हुए स्वामीजी राजाको सम्बोधन करते

हुए कहते हैं कि—'हे राजन्! मैं इस समुद्र-वलया पृथ्वी पर 'आज्ञासिद्ध' हूँ—जो आदेश दूँ वही होता है। और अधिक क्या कहा जाय, मैं 'सिद्धसारस्वत' हूँ—सरस्वती मुझे सिद्ध है। इस सरस्वतीकी सिद्धि अथवा वचनसिद्धिमें ही समन्तभद्रकी उस सफलताका सारा रहस्य संनिहित है जो स्थान स्थान पर वादघोषणाएँ करने पर उन्हें प्राप्त हुई थी और जिसका कुछ विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

समन्तभद्रकी वह सरस्वती (वाग्देवी) जिनवाणी माता थी, जिसकी अनेकान्तदृष्टि-द्वारा अनन्य-आराधना करके उन्होंने अपनी वाणीमें वह अतिशय प्राप्त किया था जिसके आगे सभी नतमस्तक होते थे और जो आज भी सहृदय-विद्वानोंको उनकी ओर आकर्षित किये हुए है।

समन्तभद्र, श्रद्धा और गुणज्ञता दोनोंको साथमें लिये हुए, बहुत बड़े अर्हद्भक्त थे, अर्हद्गुणोंकी प्रतिपादक सुन्दर सुन्दर स्तुतियां रचनेकी ओर उनकी बड़ी रुचि थी और उन्होंने स्तुति-विद्यामें **'सुस्तुत्यां व्यसनं'** वाक्यके द्वारा अपनेको वैसी स्तुतियां रचनेका व्यसन बतलाया है। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें अधिकांश ग्रन्थ स्तोत्रोंके ही रूपको लिये हुए हैं और उनसे उनकी अद्वितीय अर्हद्भक्ति प्रकट होती है। 'स्तुतिविद्या' को छोड़कर स्वयम्भूस्तोत्र, देवागम और युक्त्यनुशासन ये तीन तो आपके खास स्तुतिग्रन्थ हैं। इनमें जिस स्तोत्र-प्रणालीसे तत्त्वज्ञान भरा गया है और कठिनसे कठिन तात्त्विक विवेचनोंको योग्य स्थान दिया गया है वह समन्तभद्रसे पहलेके ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं पाई जाती। समन्तभद्रने अपने स्तुतिग्रन्थोंके द्वारा स्तुतिविद्याका खास तौरसे उद्धार, संस्कार और विकास किया है, और इसी लिये वे 'स्तुतिकार'

कहलाते थे। उन्हें 'आद्यस्तुतिकार' होनेका भी गौरव प्राप्त था[1]। अपनी इस अर्हद्भक्ति और लोकहितसाधनकी उत्कट भावनाओंके कारण वे आगेको इस भारतवर्षमें 'तीर्थङ्कर' होनेवाले हैं, ऐसे भी कितने ही उल्लेख अनेक ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं[2]। साथ ही ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जो उनके 'पदर्द्धिक' अथवा 'चारणऋद्धि' से सम्पन्न होनेके सूचक हैं[3]।

श्रीसमन्तभद्र 'स्वामी' पदसे खास तौरपर अभिभूषित थे और यह पद उनके नामका एक अंग ही बन गया था। इसीसे विद्यानन्द और वादिराजसूरि जैसे कितने ही आचार्यों तथा पं० आशाधरजी जैसे विद्वानोंने अनेक स्थानोंपर केवल 'स्वामी' पदके प्रयोग-द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है। निःसन्देह यह पद उस समयकी दृष्टिसे[4] आपकी महती प्रतिष्ठा और असाधारण महत्ताका द्योतक है। आप सचमुच ही विद्वानोंके स्वामी थे, त्यागियोंके स्वामी थे, तपस्वियोंके स्वामी थे, योगियोंके स्वामी थे, ऋषि-मुनियोंके स्वामी थे, सद्गुणियोंके स्वामी थे, सत्कृतियोंके स्वामी थे और लोक-हितैषियोंके स्वामी थे। आपने अपने अवतारसे इस भारतभूमि-को विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीमें पवित्र किया है। आपके अवतारसे भारतका गौरव बढ़ा है और इसलिये श्री शुभचन्द्रा-चार्यने, पाण्डवपुराणमें, आपको जो 'भारतभूषण' लिखा है वह सब तरह यथार्थ ही है।

देहली जुगलकिशोर मुख्तार
ता० ४-७-१९५१

१-३ देखो स्वामी समन्तभद्र पृ० ६६, ६२, ६१ (फुटनोट)

४ आजकल तो 'कवि' और 'पण्डित' पदोंकी तरह 'स्वामी' पदका भी दुरुपयोग होने लगा है।

विषय-सूची

सकलार्थकी हानि ठहरती है—किसी भी पदार्थकी तब सत्ता अथवा व्यवस्था बन नहीं सकती। ... ७

९ पदार्थोंके सर्वथा नित्य मानने पर विकार नहीं बनता, विकारके न बननेसे कारक-व्यापार, कार्य, कार्ययुक्ति, बन्ध, भोग और विमोक्ष कुछ भी नहीं बनते और इस तरह अन्य शासन सब प्रकारसे दोषरूप ठहरता है। ९

१० स्वभावसे विकारके माननेपर क्रिया-कारकके विभ्रमादिरूप दोषापत्ति, वादान्तरका प्रसंग और उसका न बन सकना। १०

११ आत्माके देहसे सर्वथा अभिन्न या भिन्नकी कल्पनाओंमें दोष देखकर जिन्होंने आत्माको अज्ञेय माना है उनके बन्ध और मोक्षकी कोई भी स्थिति नहीं बन सकती। १२

१२ बौद्धोंका जो क्षणिकात्मवाद है उसका ज्ञापक कोई भी दृष्ट या अदृष्ट हेतु नहीं बनता और सन्तानके सर्वथा भिन्न होने पर वासना भी नहीं बन सकती। १३

१३ सन्तान-भिन्न चित्तोंमें कारण-कार्यभाव भी नहीं बन सकता। १४

१४ जो चित्तक्षण क्षण-विनश्वर निरन्वय माने गये हैं उन्हें किसके साथ समान कहकर कारण-कार्यभावकी कल्पना की जा सकती है? किसीके भी साथ वह नहीं बनती। १४

१५ हेत्वपेक्षी स्वभावके साथ समानरूप माननेपर भी कारण-कार्यभाव घटित नहीं हो सकता; क्योंकि कार्य-चित्त सत् या असत् किसी भी रूपमें हेत्वपेक्ष नहीं बन सकता। १५

१६ क्षणिकात्मवादमें सत् या असत्रूप कोई हेतु बनता ही नहीं, वैसा माननेमें दोषापत्ति। नाश और उदयकी एकक्षणता भी सदोष है। १६

होनेसे दोनोंके ही द्वारा उस तत्त्वकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती। २२

२४ निःसाधना सिद्धिका आश्रय लेकर 'विज्ञानमात्र' अथवा 'संवेदनाद्वैत' तत्त्वको योगिगम्य कहनेसे कोई काम नहीं चलता, उससे परवादियोंको उस तत्त्वका प्रत्यय (बोध) नहीं कराया जा सकता। २३

२५ जो (विज्ञानाद्वैत) तत्त्व सकल-विकल्पोंसे शून्य है वह 'स्वसंवेद्य' नहीं होता और जो सम्पूर्ण कथन-प्रकारोंकी आश्रयतासे रहित है वह 'निगद्य' नहीं होता। ऐसा कथन अनेकान्ता-त्मक स्याद्वादकी उक्तिसे बाह्य है और सुषुप्ति-की अवस्थाको प्राप्त है। २४

२६ जो लोग गूंगेके स्वसंवेदनादिकी तरह उक्त तत्त्वको आत्मवेद्य, अनभिलाप्य, अनंगसंज्ञ और परके द्वारा अवेद्य बतलाते हैं वे अपने अवाच्य तत्त्वको स्वयं वाच्य बना रहे हैं। २५

२७ 'शास्ता (बुद्ध) ने अनवद्य-वचनोंकी शिक्षा दी परन्तु उन वचनोंसे उनके वे शिष्य शिक्षित नहीं हुए' यह कथन (बौद्धोंका) दूसरा दुर्गतम अन्धकार है। वीर-जिन-जैसे शास्ताके बिना निःश्रेयसका न बन सकना। २६

२८ संवेदनाद्वैतकी प्रत्यक्षा तथा लैङ्गिकी आदि कोई भी गति न होनेसे उसकी प्रतिपत्ति नहीं बनती। .. २७

संवृतिसे संवेदनाद्वैतकी प्रतिपत्ति माननेमें बाधा। एकान्त सब परमार्थ शून्य है। .. २७

२९ 'गुरुके द्वारा उपदिष्ट अविद्या भाव्यमान हुई निश्चयसे विद्याको जन्म देनेमें समर्थ है' इस बौद्ध-मान्यतामें दोषापत्ति। २८

हैं और ये सब विकल्प 'स्यात्' शब्दके द्वारा नेतृत्वको प्राप्त हैं। ६०

५६ 'स्यात्' शब्द भी नयोंके आदेशसे गौण और मुख्य-स्वभावोंके द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तोंको लिये रहता है, अन्यथा नहीं; क्योंकि वह यथोपाधि—विशेषणानुसार—विशेषका—धर्मान्तरका—द्योतक होता है। .. ६१

५७ तत्त्व तो अनेकान्तात्मक है, अनेकान्त भी अशेषरूपको लिये हुए अनेकान्तरूप है और वह दो प्रकारसे व्यवस्थित है—एक द्रव्यरूप भवार्थवान् होनेसे और दूसरे पर्याय-रूप व्यवहारवान् होनेसे। ६२

५८ सर्वथा द्रव्यकी तथा सर्वथा पर्यायकी कोई व्यवस्था नहीं बनती और न सर्वथा पृथग्भूत (परस्परनिरपेक्ष) द्रव्य-पर्यायकी युगपत् ही कोई व्यवस्था बनती है। ६२

५९ यदि सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाय तो यह सर्वथा द्वयात्मकता एकत्वके साथ विरुद्ध पड़ती है। ६२

६० वीरजिनके शासनमें ये धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों असर्वथारूपसे भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाभिन्न माने गये हैं और इसलिये (सर्वथा) विरुद्ध नहीं हैं। ६३

६१ प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप जो अर्थका अर्थसे प्ररूपण है उसे 'युक्त्यनुशासन' कहते हैं, वही वीरशासनमें मान्य है। ६४

६२ अर्थका रूप प्रतिक्षण स्थिति, उदय (उत्पाद) और व्यय-रूप तत्त्वव्यवस्थाको लिये हुए है; क्योंकि वह सत्रूप है ६४

६३ वीर-शासनमें जो वस्तु एकरूप है वह अनेकरूपताको और जो अनेकरूप है वह एकरूपताको त्याग नहीं करती; तभी वस्तुरूपसे व्यवस्थित होती है, अन्यथा नहीं।

होता; क्योंकि उन द्रव्यादिकोंके साथ उसकी वृत्ति मानी नहीं गई। ७२

७० यदि सामान्यकी द्रव्यादि वस्तुके साथ वृत्ति मानी भी जाय तो वह वृत्ति भी न तो कृत्स्न (निरंश) विकल्परूप मानकर बनती है और न अंशविकल्परूप। ७३

७१ जो एक अनन्त व्यक्तियोंके समाश्रयरूप है उस एक (सत्तामहासामान्य) के ग्राहक प्रमाणका अभाव है। ७३

७२ नाना सत्पदार्थोंका एक आत्मा ही जिसका समाश्रय है ऐसा सामान्य यदि (सामान्यवादियोंके द्वारा) माना जाय और उसे ही प्रमाणका विषय बतलाया जाय तो ऐसा मान्यतावाले सामान्यवादियोंसे यह प्रश्न होता है कि उनका वह सामान्य अपने व्यक्तियोंसे अन्य है या अनन्य ? दोनों ही उत्तरोंमें दोषापत्ति। . ७४

७३ यदि सामान्यको अवस्तु ही इष्ट किया जाय और उसे विकल्पोंसे शून्य माना जाय तो उस अवस्तुभूत सामान्य-के अप्रमेय होनेपर प्रमाणकी प्रवृत्ति कहां होती है ? अतः उसकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। ७५

७४ यदि साध्यको व्यावृत्तिहीन अन्वयसे सिद्ध माना जाय तो वह सिद्ध नहीं होता। यदि अन्वयहीन व्यावृत्तिसे साध्य जो सामान्य उसको सिद्ध माना जाय तो वह भी नहीं बनता। ७६

७५ यदि अन्वय और व्यावृत्ति दोनोंसे हीन जो अद्वितय-रूप हेतु है उसमें सन्मात्रका प्रतिभासन होनेसे सत्ता-द्वैतरूप सामान्यकी सिद्धि होती है, ऐसा कहा जाय तो यह कहना भी ठीक नहीं है। .. ७७

७६ यदि अद्वितयको संवित्तिमात्रके रूपमें मानकर असाधन-व्यावृत्तिसे साधनको और असाध्य-व्यावृत्तिसे साध्यको

स्याद्वाद-शासनमें अभेदबुद्धिसे अविशिष्टता और भेद-बुद्धिसे विशिष्टताकी प्राप्ति होती है। ... ८१

८३ वीरका अनेकान्त-शासन ही 'सर्वोदयतीर्थ' है, वह गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको लिये हुए सर्वान्तवान (अशेष-धर्मोंका आश्रय), सर्व आपदाओंका अन्त करनेवाला और स्वयं निरन्त है। ८२

८४ जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता वह सब धर्मोंसे शून्य होता है। ८३

८५ वीरके शासनसे यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखनेवाला भी यदि समदृष्टि हुआ उपपत्तिचक्षुसे वीरके द्वारा प्रतिपादित इष्टतत्त्वका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृङ्ग खण्डित हो जाता है और वह अभद्र होता हुआ भी सब ओरसे भद्र एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। ८३

८६ वीरके प्रति राग और दूसरोंके प्रति द्वेष इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई हेतु नहीं। यह उन लोगोंके उद्देश्यसे, वीरजिनकी गुणकथाके साथ, निर्मित हुआ है जो न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और गुण-दोषको जाननेकी जिनकी इच्छा है। उनके लिए यह ग्रन्थ 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' है। ... ८४

८७ शक्तिके अनुरूप स्तुत वीरजिनेन्द्रसे अपने प्रतिनिधि-रहित मार्गमें और भी अधिक भक्तिको चरितार्थ करनेकी प्रार्थना अथवा भावनाके साथ ग्रन्थकी समाप्ति। ८५

श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत

(श्रीवीरजिन-गुणकथा-सहकृत)

हिताऽन्वेषणोपायभूत

युक्त्यनुशासन

हिन्दी अनुवादादि-सहित

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं
त्वां वर्द्धमानं स्तुति-गोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं
विशीर्ण-दोषाऽऽशय-पाश-बन्धम् ॥१॥

'हे वीरजिन !—इस युगके अन्तिम तीर्थप्रवर्त्तक परमदेव !—आप दोषों और दोषाऽऽशयोंके पाश-बन्धनसे विमुक्त हुए हैं—आपने अज्ञान-अदर्शन-राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-विकारों अर्थात् विभावपरिणामरूप भावकर्मों और इन दोषात्मक भावकर्मोंके संस्कारक कारणों अर्थात् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीय-अन्तरायरूप द्रव्यकर्मोंके जालको छिन्न-भिन्न कर

स्वतन्त्रता प्राप्त की **है—; आप निश्चितरूपसे प्रद्धमान** (प्रवृद्धप्रमाण) **हैं**–आपका तत्त्वज्ञानरूप प्रमाण (केवलज्ञान) स्याद्वाद-नयसे संस्कृत होनेके कारण **प्रवृद्ध है अर्थात्** सर्वोत्कृष्ट एवं अबाध्य **है–और** (इस प्रवृद्धप्रमाणके कारण) **आप महती कीर्तिसे भूमण्डलपर वर्द्धमान हैं**--जीवादितत्त्वार्थोंका कीर्तन (सम्यग्दर्शन) करनेवाली युक्ति-शास्त्राऽविरोधिनी दिव्यवाणीसे साक्षात् समवसरणकी भूमिपर तथा परम्परासे परमागमकी विषयभूत सारी पृथ्वीपर छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, निकटवर्ती-दूरवर्ती, तत्कालीन और उत्तरकालीन सभी पर-अपर परीक्षकजनोंके मनोंको संशयादिके निरसनद्वारा पुष्ट एवं व्याप्त करते हुए आप वृद्धि–व्याप्तिको प्राप्त हुए है--सदा सर्वत्र और सबोंके लिये 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्' के रूपमे अवस्थित हैं, यह बात परीक्षा-द्वारा सिद्ध हो चुकी है। (अतः) **अब**—परीक्षाऽवसानके समय अर्थात् (आप्तमीमांसाके द्वारा) युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्त्व-हेतुसे परीक्षा करके यह निर्णय कर चुकनेपर कि आप विशीर्ण-दोषाशय-पाशबन्धत्वादि तीन असाधारण गुणों (कर्मभेत्तृत्व, सर्वज्ञत्व, परमहितोपदेशकत्व) से विशिष्ट हैं—**आपको स्तुतिगोचर मानकर**—स्तुतिका विषयभूत आप्तपुरुष स्वीकार करके—**हम**–परीक्षाप्रधानी मुमुक्षुजन–**आपको अपनी स्तुतिका विषय बनाना चाहते हैं**—आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त होना चाहते है।'

याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाऽऽख्या
लोके स्तुतिर्भूरि-गुणोदधेस्ते।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो
वक्तुं जिन! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥

'**यथार्थताका**—यथावस्थित स्वभावका—**उल्लंघन करके गुणोंके**—चौरासी लाख गुणोंमेंसे किसीके भी—**उदय-उत्कर्षकी जो आख्या–कथनी है**—बढ़ा चढ़ाकर कहनेकी पद्धति है—**उसे लोकमें 'स्तुति' कहते हैं। परन्तु हे वीरजिन! आप भूरिगुणोदधि हैं**—अनन्तगुणोंके समुद्र हैं—**और उस गुणसमुद्रके सूक्ष्मसे सूक्ष्म अंशको भी हम** (पूरे-

तौरसे) **कथन करनेके लिये समर्थ नहीं हैं**—बढ़ा-चढ़ा कर कहनेकी तो बात ही दूर है। अतः यह स्तुति तो हमसे बन नहीं सकती; **तब हम छद्मस्थजन** (कोई भी उपमान न देखते हुए) **किस तरहसे आपकी स्तुति करके स्तोता बनें, यह कुछ समझमें नहीं आता !!'**

तथाऽपि वैय्यात्यमुपेत्य भक्त्या
स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति
किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥३॥

'(यद्यपि हम छद्मस्थजन आपके छोटे-से-छोटे गुणका भी पूरा वर्णन करनेके लिये समर्थ नहीं हैं) **तो भी मैं भक्तिके वश धृष्टता धारण करके शक्तिके अनुरूप वाक्योंको लिये हुए आपका स्तोता बना हूँ**—आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। **किसी वस्तुके इष्ट होनेपर क्या पुरुषार्थीजन अपनी शक्तिके अनुसार क्रियाओं-प्रयत्नों-द्वारा उसकी प्राप्तिके लिये उत्साहित एवं प्रवृत्त नहीं होते ?**—होते ही हैं। तदनुसार ही मेरी यह प्रवृत्ति है—मुझे आपकी स्तुति इष्ट है।'

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्म-पथस्य नेता
महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

'हे वीरजिन ! **आप** (अपनी साधनाद्वारा) **शुद्धि और शक्तिके उदय-उत्कर्षकी उस काष्ठाको**—परमावस्था अथवा चरमसीमाको—**प्राप्त हुए हैं जो उपमा-रहित है और शान्ति-सुख-स्वरूप है**—आपमें ज्ञानावरण और दर्शनावरणरूप कर्ममलके क्षयसे अनुपमेय निर्मल ज्ञान-दर्शनका तथा अन्तरायकर्मके अभावसे अनन्तवीर्यका आविर्भाव हुआ है, और यह

सब आत्म-विकास मोहनीयकर्मके पूर्णतः विनाश-पूर्वक होनेसे उस विनाशसे उत्पन्न होनेवाले परम शान्तिमय सुखको साथमें लिये हुए है। (इसीसे) **आप ब्रह्मपथके**—आत्मविकास-पद्धति अथवा मोक्ष-मार्गके—**नेता हैं**—अपने आदर्श एवं उपदेशादि-द्वारा दूसरोंको उस आत्मविकासके मार्गपर लगानेवाले हैं—**और महान् हैं**—पूज्य परमात्मा हैं—, **इतना कहने अथवा दूसरोंको सिद्ध करके बतलानेके लिये हम समर्थ हैं।**'

> **कालः कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा**
> **श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा ।**
> **त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी-**
> **प्रभुत्व-शक्तेरपवाद-हेतुः ॥५॥**

'(इस तरह आपके महान् होते हुए, हे वीरजिन!) **आपके शासन-में**—अनेकान्तात्मक मतमें—(निःश्रेयस और अभ्युदयरूप लक्ष्मीकी प्राप्ति-का कारण होनेसे) **एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मीका**—सभी अर्थ-क्रियार्थि-जनोंके द्वारा अवश्य आश्रयनीयरूप सम्पत्तिका—**स्वामी होनेकी जो शक्ति है**—आगमान्विता युक्तिके रूपमें सामर्थ्य है—**उसके अपवादका**—एकाधिपत्य प्राप्त न कर सकनेका—**कारण** (वर्तमानमें) **एक तो कलि-काल है**—जो कि साधारण बाह्य कारण है, **दूसरा प्रवक्ताका वचनाऽ-नय है**—आचार्यादि प्रवक्तृवर्गका प्रायः अप्रशस्त–निरपेक्ष नयके साथ वचनव्यवहार है अर्थात् सम्यक्‌नय-विवक्षाको लिये हुए उपदेशका न देना है—जो कि असाधारण बाह्य कारण है, **और तीसरा श्रोताका**—श्राव-कादि-श्रोतृवर्गका—**कलुषित आशय है**—दर्शनमोहसे प्रायः आक्रान्त चित्त है—जोकि अन्तरंग कारण है।'

> **दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं**
> **नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।**

अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

'हे वीरजिन ! आपका मत—अनेकान्तात्मक शासन—**दया** (अहिंसा), **दम** (संयम), **त्याग** (परिग्रह-त्यजन) **और समाधि** (प्रशस्तध्यान) **की निष्ठा-तत्परताको लिये हुए है**—पूर्णतः अथवा देशतः प्राणिहिंसासे निवृत्ति तथा परोपकारमें प्रवृत्तिरूप वह दयाव्रत जिसमें असत्यादिसे विरक्तिरूप सत्यव्रतादिका अन्तर्भाव (समावेश) है; मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयोंमे राग-द्वेषकी निवृत्तिरूप संयम; बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहोंका स्वेच्छासे त्यजन अथवा दान; और धर्म तथा शुक्ल-ध्यानका अनुष्ठान; ये चारों उसके प्रधान लक्ष्य हैं। (साथ ही) **नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा** (असम्भवद्बाधकविषय-स्वरूप) **सम्यक् वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट** (सुनिश्चित) **करनेवाला है और** (नेकान्तवादसे भिन्न) **दूसरे सभी प्रवादोंसे अबाध्य है**—दर्शनमोहोदयके वशीभूत हुए सर्वथा एकान्तवादियोंके द्वारा प्रकल्पित वादोंमेंसे कोई भी वाद (स्वभावसे मिथ्यावाद होनेके कारण) उसके (सम्यग्वादात्मक) विषयको बाधित अथवा दूषित करनेके लिये समर्थ नहीं है—(यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिये वह) **अद्वितीय है**—अकेला ही सर्वाधिनायक होनेकी क्षमता रखता है।'

अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं
तव स्वतन्त्राऽन्यतरत्ख-पुष्पम् ।
अवृत्तिमत्त्वात्समवाय-वृत्तेः
संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः ॥७॥

(हे वीरभगवन् !) **आपका अर्थतत्त्व**—आपके द्वारा मान्य-प्रतिपादित अथवा आपके शासनमें वर्णित जीवादि-वस्तुतत्त्व—**अभेद-भेदा-**

त्मक है—परस्परतन्त्रता (अपेक्षा, दृष्टिविशेष) को लिये हुए अभेद और भेद दोनों रूप है अर्थात् कथञ्चित् द्रव्य-पर्यायरूप, कथञ्चित् सामान्य-विशेषरूप, कथञ्चित् एकाऽनेकरूप और कथञ्चित् नित्याऽनित्यरूप है; न सर्वथा अभेदरूप (द्रव्य, सामान्य, एक अथवा नित्यरूप) है, न सर्वथा भेदरूप (पर्याय, विशेष, अनेक अथवा अनित्यरूप) है और न सर्वथा उभयरूप (परस्परनिरपेक्ष द्रव्य-पर्यायमात्र, सामान्य-विशेषमात्र, एक-अनेकमात्र अथवा नित्य-अनित्यमात्र) है। **अभेदात्मकतत्त्व** (द्रव्यादिक) **और भेदात्मकतत्त्व** (पर्यायादिक) **दोनोंको स्वतन्त्र**—पारस्परिक तन्त्रतासे रहित सर्वथा निरपेक्ष—**स्वीकार करनेपर प्रत्येक**—द्रव्य, पर्याय तथा उभय; सामान्य, विशेष तथा उभय; एक, अनेक तथा उभय; और नित्य, अनित्य तथा उभय—**आकाशके पुष्प-समान** (अवस्तु) **हो जाता है**—प्रतीयमान (प्रतीतिका विषय) न हो सकनेसे किसीका भी तब अस्तित्व नहीं बनता।'

(इसपर यदि यह कहा जाय कि स्वतन्त्र एक द्रव्य प्रत्यक्षादिरूपसे उपलभ्यमान न होनेके कारण क्षणिकपर्यायकी तरह आकाश-कुसुमके समान अवस्तु है सो तो ठीक; परन्तु उभय तो द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-सामावायरूप सत् तत्त्व है और प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव-अन्योन्याभाव-अत्यंताभावरूप असत् तत्त्व है, वह उनके स्वतन्त्र रहते हुए भी कैसे आकाशके पुष्प-समान अवस्तु है ? वह तो द्रव्यादि-ज्ञानविशेषका विषय सर्वजनोंमें सुप्रसिद्ध है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कारणद्रव्य (अवयव)-कार्यद्रव्य (अवयवी) की, गुण-गुणीकी, कर्म-कर्मवान्की समवाय-समवायवान्की एक दूसरेसे स्वतन्त्र पदार्थके रूपमें एक वार भी प्रतीति नहीं होती। वस्तुतत्त्व इससे विलक्षण-जात्यन्तर अथवा विजातीय-है और वह सदा सबोंको अवयव-अवयवीरूप, गुण-गुणीरूप, कर्म-कर्मवान्रूप तथा सामान्य-विशेषरूप प्रत्यक्षादि-प्रमाणोंसे निर्बाध प्रतिभासित होता है।)

(यदि वैशेषिक-मतानुसार पदार्थोंको—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य,

विशेष और समवाय इन छहोंको—सर्वथा स्वतन्त्र मानकर यह कहा जाय कि समवाय-वृत्तिसे शेष सब पदार्थ वृत्तिमान् हैं अर्थात् समवाय नामके स्वतन्त्र पदार्थ-द्वारा वे सब परस्परमें सम्बन्धको प्राप्त हैं, तो) **समवायवृत्तिके अवृत्तिमती होनेसे**—समवाय नामके स्वतन्त्र पदार्थका दूसरे पदार्थोंके साथ स्वयंका कोई सम्बन्ध न बन सकनेके कारण[1] उसे स्वयं असम्बन्धवान् माननेसे—**संसर्गकी हानि होती है**—किसी भी पदार्थका सम्पर्क

---

१ समवाय पदार्थका दूसरे पदार्थोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता; क्योंकि सम्बन्ध तीन प्रकारका होता है—एक संयोग-सम्बन्ध, दूसरा समवाय-सम्बन्ध और तीसरा विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्ध। पहला संयोग-सम्बन्ध इसलिये नहीं बनता, क्योंकि उसकी वृत्ति द्रव्यमें मानी गई है—द्रव्योंके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंमें वह घटित नहीं होती—और समवाय द्रव्य है नहीं, इसलिये संयोगसम्बन्धके साथ उसका योग नहीं भिड़ता। यदि अद्रव्यरूप समवायमें संयोगकी वृत्ति मानी जायगी तो वह गुण नहीं बन सकेगा और वैशेषिक मान्यताके विरुद्ध पड़ेगा; क्योंकि वैशेषिकमतमें संयोगको भी एक गुण माना है और उसको द्रव्याश्रित बतलाया है। दूसरा समवाय-सम्बन्ध इसलिये नहीं बन सकेगा, क्योंकि वह समवायान्तरकी अपेक्षा रक्खेगा और एकके अतिरिक्त दूसरा समवाय पदार्थ वैशेषिकोंने माना नहीं है। और तीसरा विशेषण-विशेष्य-भाव–सम्बन्ध इसलिये घटित नहीं होता, क्योंकि वह स्वतन्त्र पदार्थोंका विषय ही नहीं है। यदि उसे स्वतन्त्र पदार्थोंका विषय माना जायगा तो अतिप्रसंग दोष आएगा और तब सह्याचल (पश्चिमीघाटका एक भाग) तथा विन्ध्याचल जैसे स्वतन्त्र पर्वतोंमें भी विशेषण-विशेष्य–भावका सम्बन्ध घटित करना होगा, जो नहीं हो सकता। विशेषण-विशेष्यभाव-सम्बन्धकी यदि पदार्थान्तरके रूपमें संभावना की जाय तो वह सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा विना नहीं बनता और दूसरे सम्बन्धकी अपेक्षा लेनेपर अनवस्था दोष आता है। इस तरह तीनोंमेंसे कोई भी सम्बन्ध घटित नहीं हो सकता।

अथवा सम्बन्ध एक दूसरेके साथ नहीं बनता। समवाय-समवायिकी तरह असंस्पृष्ट पदार्थोंके समवायवृत्तिसे संसर्गकी कल्पना न करके, पदार्थोंके अन्योऽन्य-संसर्ग (एक दूसरेके साथ सम्बन्ध) को स्वभावसिद्ध माननेपर स्याद्वाद शासनका ही आश्रय होजाता है; क्योंकि स्वभावसे ही द्रव्यका सभी गुण-कर्म-सामान्य-विशेषोंके साथ कथञ्चित् तादात्म्यका अनुभव करने वाले ज्ञानविशेषके वशसे यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, यह सामान्य है, यह विशेष है और यह उनका अविश्वग्भावरूप (अपृथग्भूत) समवाय-सम्बन्ध है, इस प्रकार भेद करके सन्नयनिबन्धन (समीचीन नय-व्यवस्थाको लिये हुए) व्यवहार प्रवर्तता है और उससे अनेकान्तमत प्रसिद्ध होता है, जो वैशेषिकोंको इष्ट नहीं है और इसलिये वैशेषिकोंके मतमें स्वभावसिद्ध संसर्गके भी न बन सकनेसे संसर्गकी हानि ही ठहरती है। **और संसर्गकी हानि होनेसे**—पदार्थोंका परस्परमें स्वतः (स्वभावसे)अथवा परतः (दूसरेके निमित्तसे) कोई सम्बन्ध न बन सकनेके कारण—**संपूर्ण पदार्थोंकी हानि ठहरती है**—किसी भी पदार्थकी तब सत्ता अथवा व्यवस्था बन नहीं सकती।—अतः जो लोग इस हानिको नहीं चाहते उन आस्तिकोंके द्वारा वही वस्तुतत्त्व समर्थनीय है जो अभेद-भेदात्मक है, परस्पर तन्त्र है, प्रतीतिका विषय है तथा अर्थक्रियामें समर्थ है और इसलिये जिसमें विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है। वह वस्तुतत्त्व हे वीरजिन! आपके मतमें प्रतिष्ठित है, इसीसे आपका मत अद्वितीय है—नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट करनेवाला और दूसरे सभी प्रवादों (सर्वथा एकान्तवादो) से अबाध्य होनेके कारण सुव्यवस्थित है—दूसरा (सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेनेवाला) कोई भी मत व्यवस्थित न होने-से उसके जोड़का, सानी अथवा समान नहीं है, वह अपना उदाहरण आप है।

भावेषु नित्येषु विकारहाने-
र्न कारक-व्यापृत-कार्य-युक्तिः ।

न बन्ध-भोगौ न च तद्विमोक्षः
समन्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥८॥

'सत्तात्मक पदार्थोंको—दिक्-काल-आकाश-आत्माको,—पृथिव्यादि-परमाणु-द्रव्योंको, परम-महत्त्वादि गुणोंको तथा सामान्य-विशेष-समवाय-को—(सर्वथा) नित्य माननेपर उनमें विकारकी हानि होती है—कोई भी प्रकारकी विक्रिया नहीं बन सकती—विकारकी हानिसे कर्त्रादि कारकोंका (जो क्रियाविशिष्ट द्रव्य प्रसिद्ध हैं उनका) व्यापार नहीं बन सकता, कारक-व्यापारके अभावमें (द्रव्य-गुण-कर्मरूप) कार्य नहीं बन सकता, और कार्यके अभावमें (कार्यलिंगात्मक अनुमानरूप तथा योग-सम्बन्ध-संसर्गरूप) युक्ति घटित नहीं हो सकती। युक्तिके अभावमें बन्ध तथा (बन्ध-फलानुभवनरूप) भोग दोनों नहीं बन सकते और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है;—क्योंकि विमोक्ष बन्धपूर्वक ही होता है, बन्धके अभावमें मोक्ष कैसा ? इस तरह पूर्व-पूर्वके अभावमें उत्तरोत्तरकी व्यवस्था न बन सकनेसे संपूर्ण भावात्मक पदार्थोंकी हानि ठहरती है—किसीकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। और जब भावात्मक पदार्थ ही व्यवस्थित नहीं होते तब प्रागभाव-प्रध्वंसाभावादि अभावात्मक पदार्थोंकी व्यवस्था तो कैसे बन सकती है ? क्योंकि वे भावात्मक पदार्थोंके विशेषण होते हैं, स्वतंत्ररूपसे उनकी कोई सत्ता ही नहीं है। अतः (हे वीरजिन !) आपके मतसे भिन्न दूसरोंका—सर्वथा एकान्तवादी वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य आदिका—मत (शासन) सब प्रकारसे दोषरूप है—देश, काल और पुरुषविशेषकी अपेक्षासे भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम-गम्य सभी स्थानोंमें बाधित है।'

अहेतुकत्व-प्रथितः स्वभाव-
स्तस्मिन् क्रिया-कारक-विभ्रमः स्यात्।
आबाल-सिद्धे र्विविधार्थ-सिद्धि-
र्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ॥९॥

'(यदि यह कहा जाय कि आत्मादि नित्य द्रव्योंमें स्वभावसे ही विकार सिद्ध है अतः कारकव्यापार, कार्य और कार्ययुक्ति सब ठीक घटित होते हैं, और इस तरह सकल दोष असंभव ठहरते हैं—कोई भी दोषापत्ति नहीं बन सकती; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वह स्वभाव बिना किसी हेतुके ही प्रथित (प्रसिद्ध) है अथवा आबाल-सिद्धिसे विविधार्थ-सिद्धिके रूपमें प्रथित है ? (उत्तरमें) **यदि यह कहा जाय कि नित्य पदार्थोंमें विकारी होनेका स्वभाव बिना किसी हेतुके ही प्रथित है तो ऐसी दशामें क्रिया और कारकका विभ्रम ठहरता है**—स्वभावसे ही पदार्थोंका ज्ञान तथा आविर्भाव होनेसे ज्ञप्ति तथा उत्पत्तिरूप जो प्रतीयमान क्रिया है उसके भ्रान्तिरूप होनेका प्रसंग आता है, अन्यथा स्वभावके निर्हेतुकत्वकी सिद्धि नहीं बनती। और क्रियाके विभ्रमसे प्रतिभासमान कारक-समूह भी विभ्रम-रूप हो जाता है; क्योंकि क्रियाविशिष्ट द्रव्यका नाम 'कारक' प्रसिद्ध है, क्रियासे कारककी उत्पत्ति नहीं। और स्वभाववादीके द्वारा क्रिया-कारकका विभ्रम मान्य नहीं किया जा सकता—**विभ्रमकी मान्यतापर वादान्तरका प्रसंग आता है**—सर्वथा स्वभाववाद स्थिर न रहकर एक नया विभ्रम-वाद और खड़ा हो जाता है। **परन्तु** (हे वीरजिन !) **क्या आपसे**—आपके स्याद्वाद-शासनसे—**द्वेष रखनेवालेके यहाँ यह वादान्तर बनता है ?**—नहीं बनता; क्योंकि 'सब कुछ विभ्रम है' ऐसा एकान्तरूप वादा-न्तर स्वीकार करनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस विभ्रममें अविभ्रम—अभ्रान्ति है या वह भी विभ्रम—भ्रान्तिरूप है ? यदि अविभ्रम है तो विभ्रम-एकान्त न रहा—अविभ्रम भी कोई पदार्थ ठहरा। और यदि विभ्रममें भी विभ्रम है तो सर्वत्र अभ्रान्तिकी सिद्धि हुई; क्योंकि विभ्रममें विभ्रम होनेसे वास्तविक स्वरूपकी प्रतिष्ठा होती है। और ऐसी हालतमें स्वभावके निर्हेतु-कत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती।'

'**यदि यह कहा जाय कि** (बिना किसी हेतुके नहीं किन्तु) **आबाल-सिद्धिरूप हेतुसे विविधार्थकी**—सर्वथा नित्य पदार्थोंमें विक्रिया तथा कारक-व्यापारादिकी—**सिद्धिके रूपमें स्वभाव प्रथित** (प्रसिद्ध) **है**—

अर्थात् क्रिया-कारकादिरूप जो विविध अर्थ हैं उन्हें बालक तक भी स्वीकार करते हैं इसलिये वे सिद्ध हैं और उनका इस प्रकारसे सिद्ध होना ही स्वभाव है—तो यह वादान्तर हुआ; परन्तु यह वादान्तर भी (हे वीर भगवन् !) आपके द्वेषियोंके यहाँ बनता कहाँ है ?—क्योंकि वह आबाल-सिद्धिसे होनेवाली निर्णीति नित्यादि सर्वथा एकान्तवादका आश्रय लेनेपर नहीं बन सकती, जिससे सब पदार्थों सब कार्यों और सब कारणों-की सिद्धि होती। कारण यह कि वह निर्णीति अनित्य होती है और बिना वि-क्रियाके बनती नहीं, इसलिये सर्वथानित्य एकान्तके साथ घटित नहीं हो सकती। प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे किसी पदार्थकी सिद्धिके न हो सकनेपर दूसरोंके पूछने अथवा दूषणार्थ जिज्ञासा करनेपर स्वभाववादका अवलम्बन ले लेना युक्त नहीं है; क्योंकि इससे अतिप्रसंग आता है—प्रकृतसे अन्यत्र विपक्षमें भी यह घटित होता है। सर्वथा अनित्य अथवा क्षणिक एकान्तको सिद्ध करनेके लिये भी स्वभाव-एकान्तका अवलम्बन लिया जा सकता है। और यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी सामर्थ्यसे विविधार्थकी सिद्धिरूप स्वभाव है तो फिर स्वभाव-एकान्तवाद कैसे सिद्ध हो सकता है ?; क्योंकि स्वभावकी तो स्वभावसे ही व्यवस्थिति है, उसको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके बल-से व्यवस्थापित करनेपर स्वभाव-एकान्त स्थिर नहीं रहता। इस तरह हे वीर जिन ! आपके अनेकान्तशासनसे विरोध रखनेवाले सर्वथा एकान्त-वादियोंके यहाँ कोई भी वादान्तर (एकके साथ दूसरा वाद) बन नहीं सकता—वादान्तर तो सम्यक् एकान्तके रूपमें आपके मित्रों—सपक्षियों अथवा अनेकान्तवादियोंके यहाँ ही घटित होता है।'

येषामवक्तव्यमिहाऽऽत्म-तत्त्वं
देहादनन्यत्व-पृथक्त्व-कॢप्तेः ।
तेषां ज्ञ-तत्त्वेऽनवधार्यतत्त्वे
का बन्ध-मोक्ष-स्थितिरप्रमेये ॥१०॥

'नित्य आत्मा देहसे (सर्वथा) अभिन्न है या भिन्न इस कल्पनाके होनेसे (और अभिन्नत्व तथा भिन्नत्व दोनोंमेंसे किसी एक भी विकल्पके निर्दोष सिद्ध न हो सकनेसे[१]) जिन्होंने आत्मतत्त्वको 'अवक्तव्य'—वचनके अगोचर अथवा अनिर्वचनीय—माना है उनके मतमें आत्मतत्त्व अनवधार्य (अज्ञेय) तत्त्व हो जाता है—प्रमेय नहीं रहता। और आत्मतत्त्वके अनवधार्य (अप्रमेय) होनेपर तथा प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणका विषय न रहनेपर बन्ध और मोक्षकी कौन-सी स्थिति बन सकती है ? बन्ध्या-पुत्रकी तरह कोई भी स्थिति नहीं बन सकती—न बन्ध व्यवस्थित होता है और न मोक्ष। और इसलिये बन्ध-मोक्षकी सारी चर्चा व्यर्थ ठहरती है।'

१ देहसे आत्माको सर्वथा अभिन्न माननेपर संसारके अभावका प्रसंग आता है; क्योंकि देह-रूपादिककी तरह देहात्मक आत्माका भवान्तर-गमन तब बन नहीं सकता और इसलिये उसी भवमें उसका विनाश ठहरता है, विनाशका नित्यत्वके साथ विरोध होनेसे आत्मा नित्य नहीं रहता और चार्वाकमतके आश्रयका प्रसंग आता है, जो आत्मतत्त्वको भिन्नतत्त्व न मानकर पृथिवी आदि भूतचतुष्कका ही विकार अथवा कार्य मानता है और जो प्रमाण-विरुद्ध है तथा आत्मतत्त्ववादियोंको इष्ट नहीं है। और देहसे आत्माको सर्वथा भिन्न माननेपर देहके उपकार-अपकारसे आत्माके सुख-दुःख नहीं बनते, सुख-दुःखका अभाव होनेपर राग-द्वेष नहीं बन सकते और राग-द्वेषके अभावमें धर्म अधर्म सम्भव नहीं हो सकते। अतः 'स्वदेहमें अनुरागका सद्भाव होनेसे उसके उपकार-अपकारके द्वारा आत्माके सुख-दुःख उसी तरह उत्पन्न होते हैं जिस तरह स्वगृहादिके उपकार-अपकारसे उत्पन्न होते हैं' यह बात कैसे बन सकती है ? नहीं बन सकती। इस तरह दोनों ही विकल्प सदोष ठहरते हैं।

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाऽप्यदृष्टो
योऽयं प्रवादः क्षणिकाऽऽत्मवादः ।
'न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये'
सन्तानभिन्ने न हि वासनाऽस्ति ॥११॥

'प्रथम क्षणमें नष्ट हुआ चित्त-आत्मा दूसरे क्षणमें विद्यमान नहीं रहता' यह जो (बौद्धोंका) क्षणिकात्मवाद है वह (केवल) प्रवाद है—प्रमाणशून्य वाद होनेसे प्रलापमात्र है; क्योंकि इसका ज्ञापक—अनुमान करानेवाला—कोई भी दृष्ट या अदृष्ट हेतु नहीं बनता।'

(यदि यह कहा जाय कि 'जो सत् है वह सब स्वभावसे ही क्षणिक हैं', जैसे शब्द और विद्युत आदि; अपना आत्मा भी चूँकि सत् है अतः वह भी स्वभावसे क्षणिक है, और यह स्वभावहेतु ही उसका ज्ञापक है, तो इस प्रकारके अनुमानपर—ऐसा कहने अथवा अनुमान लगानेपर—यह प्रश्न पैदा होता है कि वह हेतु स्वयं प्रतिपत्ता (ज्ञाता) के द्वारा दृष्ट (देखा गया) है या अदृष्ट (नहीं देखा गया अर्थात् कल्पनारोपित) है ? दृष्टहेतु संभव नहीं हो सकता; क्योंकि सब कुछ क्षणिक होनेके कारण दर्शनके अनन्तर ही उसका विनाश हो जानेसे अनुमान कालमें भी उसका अभाव होता है। साथही, चित्तविशेषके लिङ्ग-दर्शी उस अनुमाताका भी संभव नहीं रहता। इसी तरह कल्पनारोपित (कल्पित) अदृष्ट हेतु भी नहीं बनता; क्योंकि उस कल्पनाका भी तत्क्षण विनाश हो जानेसे अनुमान-कालमें सद्भाव नहीं रहता।)

'(यदि यह कहा जाय कि व्याप्तिके ग्रहणकालमें लिङ्गदर्शनकी जो कल्पना उत्पन्न हुई थी उसके तत्क्षण विनाश हो जानेपर भी उसकी वासना (संस्कार) बनी रहती है अतः अनुमान-कालमें लिङ्ग-दर्शनसे प्रबुद्ध हुई उस वासनाके सामर्थ्यसे अनुमान प्रवृत्त होता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं

है; क्योंकि **सन्तानभिन्न** (चित्त) **में—हेतु** (साधन) **और** हेतुमद् (साध्य) **के** *अविनाभाव-सम्बन्धरूप व्याप्तिके ग्राहक चित्तसे अनुमाताका* चित्त (सन्तानतः भिन्नकी तरह) भिन्नसन्तान होनेसे उसमें—**वासनाका अस्तित्व नहीं बन सकता।** यदि भिन्न-सन्तानवालेके वासनाका अस्तित्व माना जाय तो भिन्नसन्तान देवदत्त-द्वारा साध्य-साधनकी व्याप्तिका ग्रहण होनेपर जिनदत्तके (व्याप्तिका ग्रहण न होनेपर भी) साधनको देखने मात्रसे साध्यके अनुमानका प्रसंग आएगा; क्योंकि दोनोंमें कोई विशेष नहीं है। और यह बात संभव नहीं हो सकती; क्योंकि व्याप्तिके ग्रहण-विना अनुमान प्रवर्तित नहीं हो सकता।'

> **तथा न तत्कारण-कार्य-भावो**
> **निरन्वयाः केन समानरूपाः ?।**
> **असत्खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं**
> **दृष्टं न सिद्धयत्युभयोरसिद्धम् ॥१२॥**

'(जिस प्रकार सन्तानभिन्न चित्तमें वासना नहीं बन सकती) **उसी प्रकार संतानभिन्न चित्तोंमें कारण-कार्य-भाव भी नहीं बन सकता**— *सन्तानभिन्न चित्तोंमें भी कारण-कार्य-भाव मानने पर* देवदत्त और जिनदत्तके चित्तोंमे भी कारण-कार्य-भावके प्रवर्तित होनेका प्रसंग आएगा, जो न तो दृष्ट है और न बौद्धोंके द्वारा इष्ट है।'

'(यदि यह कहा जाय कि एक सन्तानवर्ती समानरूप चित्तक्षणोंके ही कारण-कार्य-भाव होता है, भिन्नसन्तानवर्ती असमानरूप चित्तक्षणोंके कारण-कार्य-भाव नहीं होता, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) **जो चित्त-क्षण क्षणविनश्वर निरन्वय** (सन्तान-परम्परासे रहित) **माने गये हैं उन्हें किसके साथ समानरूप कहा जाय ?**—किसी भी स्वभावके साथ वे समानरूप नहीं हैं, और इसलिए उनमें कारण-कार्य-भाव घटित नहीं हो

सकता। सत्स्वभाव अथवा चित्स्वभावके साथ समानरूप माननेपर भिन्न-सन्तानवर्ती देवदत्त और जिनदत्तके चित्त-क्षण भी सत्स्वभाव और चित्स्व-भावकी दृष्टिसे परस्परमें कोई विशेष न रखनेके कारण समानरूप ठहरेंगे और उनमें कारण-कार्य-भावकी उक्त आपत्ति बदस्तूर बनी रहेगी।'

'(यदि हेत्वपेक्षि-स्वभावके साथ समानरूप माना जाय अर्थात् यह कहा जाय कि जो चित्त उपादान-उपादेय-भावको लिये हुए हैं—पूर्व-पूर्व-का चित्त जिनमें उत्तरोत्तरवर्ती चित्तका उपादान कारण है—वे ही एक-सन्तानवर्ति-चित्त परस्परमें समानरूप हैं और उन्हींके कारण-कार्य-भाव घटित होता है—सन्तानान्तरवर्ति-चित्तोंके नहीं; तो इसमें यह विकल्प उत्पन्न होता है कि उत्तरवर्ती-चित्त उत्पन्न और सत् होकर अपने हेतुकी अपेक्षा करता है या अनुत्पन्न और असत् होकर। प्रथम पक्ष तो बनता नहीं; क्योंकि सत्के सर्वथा निराशंसत्व (अवक्तव्यपना) माननेसे उसे हेत्वपेक्षरूपमें नहीं कहा जा सकता। और उत्पन्नके हेत्वपेक्षत्वका विरोध है—जो उत्पन्न हो चुका वह हेतुकी अपेक्षा नहीं रखता। दूसरा पक्ष मानने-पर) जो (कार्यचित्त) **असत् है**—उत्पत्तिके पूर्वमें जिसका सर्वथा अभाव है—**वह आकाशके पुष्प-समान हेत्वपेक्ष नहीं देखा जाता और न सिद्ध होता है; क्योंकि कोई भी असत्पदार्थ हेत्वपेक्षके रूपमें वादी-प्रतिवादी दोनोंमेंसे किसीके भी द्वारा सिद्ध** (मान्य) **नहीं है**, जिससे उत्तरोत्तर चित्तको अनुत्पन्न होनेपर भी तद्धेत्वपेक्ष सिद्ध किया जाता। हेतुके अभावमें कैसे कोई एक सन्तानवर्ती चित्तक्षण हेत्वपेक्षत्वके साथ समानरूप सिद्ध किये जा सकते हैं, जिससे उनके उपादान-उपादेय-रूपका कारण-कार्य-भाव घटित हो सके? नहीं किये जा सकते। वास्य-वासक-भावरूप हेतु भी नहीं बनता; क्योंकि एकसन्तानवर्ति—क्षणविनश्वर-निरन्वय-चित्तक्षणोंमें, भिन्नसन्तानवर्ति-चित्तक्षणोंकी तरह, वासनाका संभव नहीं होता।'

नैवाऽस्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे
न सन्नसन्वा विभवादकस्मात् ।
नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा
सन्तान-भिन्न-क्षणयोरभावात् ॥१३॥

(परमार्थसे तो) क्षणिकात्मवादमें हेतु बनता ही नहीं। क्योंकि **हेतुको यदि सत्‌रूप माना जाय**—सत्‌रूप ही पूर्वचित्तक्षण उत्तरचित्त-क्षणका हेतु है ऐसा स्वीकार किया जाय—**तो इससे विभवका प्रसंग आता है**। अर्थात् एक क्षणवर्ती चित्तमें चित्तान्तरकी उत्पत्ति होनेपर उस चित्तान्तरके कार्यकी भी उसी क्षण उत्पत्ति होगी, और इस तरह सकलचित्त और चैत्तक्षणोंके एकक्षणवर्ती हो जानेपर सकल जगत्-व्यापी चित्तप्रकारोंकी युगपत् सिद्धि ठहरेगी। और ऐसा होनेसे, जिसे क्षणिक कहा जाता है वह विभुत्वरूप ही है--सर्व व्यापक है—यह कैसे निवारण किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता। इसके सिवाय, एकक्षणवर्ती सत्-चित्तके पूर्वकाल तथा उत्तरकालमें जगत् चित्तशून्य ठहरता है और सन्तान-निर्वाण-रूप जो विभवमोक्ष है वह सबके अनुपाय (विना प्रयत्नके ही) सिद्ध होता है, **और इसलिए सत् हेतु नहीं बनता**। (इस दोषसे बचनेके लिये) **यदि हेतुको असत् ही कहा जाय तो अकस्मात्**—विना किसी कारणके ही—**कार्योत्पत्तिका प्रसंग आएगा। और इस लिये असत् हेतु भी नहीं बनता।**'

'(यदि आकस्मिक कार्योत्पत्तिके दोषसे बचनेके लिये कारणके नाशके अनन्तर दूसरे क्षणमें कार्यका उदय-उत्पाद न मानकर नाश और उत्पाद-को एक क्षणवर्ती माना जाय अर्थात् यह कहा जाय कि जिसका नाश ही कार्यका उत्पाद है वह उस कार्यक हेतु है तो यह भी नहीं बनता; क्योंकि **संतानके भिन्न क्षणोंमें नाश और उदयकी एक-क्षणताका अभाव होनेसे नाशोदयैकक्षणतारूप युक्ति सदोष है**—जैसे सुषुप्त सन्तानमें जाग्रत चित्तका जो नाश-क्षण (विनाश-काल) है वही प्रबुद्ध चित्तका

उदय-क्षण नहीं है, दोनोंमें अनेकक्षणरूप मुहूर्तादि कालका व्यवधान है, और इसलिये जा त चित्तको प्रबुद्ध चित्तका हेतु नहीं कहा जा सकता। अतः उक्त सदोष युक्तिके आधारपर आकस्मिक कार्योत्पत्तिके दोषसे नहीं बचा जा सकता।'

कृत-प्रणाशाऽकृत-कर्मभोगौ
स्यातामसञ्चेतित-कर्म च स्यात् ।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलय-स्वभावे
मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥१४॥

'यदि पदार्थको प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक माना जाय— यह कहा जाय कि जिस प्रकार बौद्ध-मान्यतानुसार बिना किसी दूसरे कारणके ही प्रलय (विनाश) आकस्मिक होता है, पदार्थ प्रलय-स्वभावरूप हैं, उसी प्रकार कार्यका उत्पाद भी बिना कारणके ही आकस्मिक होता है—तो इससे कृत-कर्मके भोगका प्रणाश ठहरेगा—पूर्व चित्तने जो शुभ अथवा अशुभ कर्म किया उसके फलका भोगी वह न रहेगा और इससे किये हुए कर्मको करने वालेके लिये निष्फल कहना होगा—और अकृतकर्मके फलको भोगनेका प्रसङ्ग आएगा—जिस उत्तरभावी चित्तने कर्म किया ही नहीं उसे अपने पूर्वचित्त द्वारा किये हुए कर्मका फल भोगना पड़ेगा—; क्योंकि क्षणिकात्मवादमें कोई भी कर्मका कर्ता चित्त उत्तर-क्षणमें अवस्थित नहीं रहता किन्तु फलकी परम्परा चलती है। साथ ही, कर्म भी असंचेतित–अविचारित ठहरेगा—क्योंकि जिस चित्तने कर्म करने-का विचार किया उसका उसी क्षण निरन्वय विनाश हो जानेसे और विचार न करनेवाले उत्तरवर्ती चित्तके द्वारा उसके सम्पन्न होनेसे उसे उत्तरवर्ती चित्तका अविचारित कार्य ही कहना होगा।'

'(इसी तरह) पदार्थके प्रलय-स्वभावरूप क्षणिक होनेपर कोई मार्ग भी युक्त नहीं रहेगा—सकल आस्रव-निरोधरूप मोक्षका अथवा

चित्त-सन्ततिके नाशरूप शान्त-निर्वाणका मार्ग (हेतु) जो नैरात्म्य-भावना-रूप बतलाया जाता है वह भी नहीं बन सकेगा; क्योंकि नाशके निर्हेतुक होनेसे सास्रव-चित्त-सन्ततिका नाश करनेके लिये किसी नाशकका होना विरुद्ध पड़ता है—स्वभावसे ही नाश मानने पर कोई नाशक नहीं बनता। और वधक भी कोई नहीं रहता—क्योंकि वह भी प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक है, जिस चित्तने वधका—हिंसाका—विचार किया वह उसी क्षण नष्ट हो जाता है और जिसका वध हुआ वह उसके प्रलयस्वभावसे आकस्मिक हुआ, उसके लिये वधका विचार न रखने वाले किसी भी दूसरे चित्तको अपराधी नहीं ठहराया जा सकता।'

न बन्ध-मोक्षौ क्षणिकैक-संस्थौ
न संवृतिः साऽपि मृषा-स्वभावा।
मुख्यादृते गौण-विधिर्न दृष्टो
विभ्रान्त-दृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥१५॥

'(पदार्थके प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक होनेपर) क्षणिक-एक-चित्तमें संस्थित बन्ध और मोक्ष भी नहीं बनते—क्योंकि जिस चित्त-का बन्ध है उसका निरन्वयविनाश हो जानेसे उत्तर-चित्त जो अबद्ध है उसीके मोक्षका प्रसंग आएगा, और एक चित्त-संस्थित बन्ध-मोक्ष उसे कहते हैं कि जिस चित्तका बन्ध हो उसीका मोक्ष होवे।'

'(यदि यह कहा जाय कि पूर्वोत्तर-चित्तोंमें एकत्वके आरोपका वि-कल्प करनेवाली 'संवृति' से क्षणिक-एकचित्त-संस्थित बन्ध और मोक्ष बनते हैं, तो प्रश्न पैदा होता है कि वह संवृति मृषास्वभावा है या गौण-विधिरूपा है ?) मृषास्वभावा संवृति क्षणिक एक चित्तमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करनेमें समर्थ नहीं है—उसमे बन्ध और मोक्ष भी मिथ्या ठहरते हैं। और गौणविधि मुख्यके बिना देखी नहीं जाती (पुरुषसिंहकी तरह)—जिस प्रकार क्रूसी पुरुषको मुख्य सिंहके अभावमे

'पुरुषसिंह' कहना नहीं बनता उसी प्रकार किसी चित्तमें मुख्यरूपसे बन्ध-मोक्षका सन्तिष्ठमान बतलाये बिना बन्ध-मोक्षकी गौणविधि नहीं बनती, और इससे मुख्यविधिके अभावमें गौणविधिरूप संवृति भी किसी एक क्षणिक चित्तमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करनेमें असमर्थ है (अतः हे वीरजिन!) आपकी (स्याद्वादरूपिणी अनेकान्त) दृष्टिसे भिन्न जो दूसरी (क्षणिकात्मवादियोंकी सर्वथा एकान्त) दृष्टि है वह विभ्रान्त दृष्टि है—सब ओरसे दोषरूप होनेके कारण वस्तुतत्त्वको यथार्थरूपसे प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है।'

प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वा-
न्न मातृ-घाती स्व-पतिः स्व-जाया।
दत्त-ग्रहो नाऽधिगत-स्मृतिर्न
न क्त्वार्थ-सत्यं न कुलं न जातिः ॥१६॥

'क्षण-क्षणमें पदार्थोंको भङ्गवान्—निरन्वय विनाशवान—माननेपर उनके पृथक्पनकी वजहसे—सर्वथा भिन्न होनेके कारण—कोई मातृघाती नहीं बनता—क्योंकि तब पुत्रोत्पत्तिके क्षणमें ही माताका स्वयं नाश हो जाता है, उत्तरक्षणमें पुत्रका भी प्रलय हो जाता है और अपुत्रका ही उत्पाद होता है; न कोई किसी (कुलस्त्री) का स्वपति बनता है;—क्योंकि उसके विवाहित पतिका उसी क्षण विनाश हो जाता है, अन्य अविवाहितका उत्पाद होता है; और न कोई किसीकी स्वपत्नी (विवाहिता स्त्री) ठहरती है—क्योंकि उसकी विवाहिता स्त्रीका उसी क्षण विनाश हो जाता है, अन्य अविवाहिताका ही उत्पाद होता है, और इससे परस्त्रीसेवनका भी प्रसङ्ग आता है।'

'(इसी तरह) दिये हुए धनादिकका (ऋणी आदिके पाससे) पुनः ग्रहण (वापिस लेना) नहीं बनता—क्योंकि बौद्ध-मान्यतानुसार जो ऋण देता है उसका उसी क्षण निरन्वय विनाश हो जाता है, उत्तर-

क्षणमें लेनेवालेका भी विनाश हो जाता है तथा अन्यका ही उत्पाद होता है और साक्षी-लेखादि भी कोई स्थिर नहीं रहता, सब उसी क्षण ध्वस्त हो जाते हैं। अधिगत किये हुए (शास्त्रके) अर्थकी स्मृति भी तब नहीं बनती—और इससे शास्त्राभ्यास निष्फल ठहरता है। 'क्त्वा' प्रत्ययका जो अर्थ-सत्य है—प्रमाणरूपसे स्वीकृत है—वह भी नहीं बनता—क्योंकि पूर्व और उत्तर-क्रियाका एक ही कर्ता होनेपर पूर्वकाल-की क्रियाको 'क्त्वा' (करके) प्रत्ययके द्वारा व्यक्त किया जाता है; जैसे 'रामो भुक्त्वा गतः'—राम खाकरके गया। यहाँ खाना और जाना इन दोनों क्रियाओंका कर्ता एक ही राम है तभी उसकी पहली खानेकी क्रिया-को 'करके' शब्दके द्वारा व्यक्त किया गया है, रामके क्षणभंगुर होनेपर वह दोनों क्रियाओंका कर्ता नहीं बनता और दोनों क्रियाओंके कर्ता भिन्न-भिन्न व्यक्ति होनेपर ऐसा वाक्य-प्रयोग नहीं बनता'

'(इसी प्रकार) न कोई कुल बनता है और न कोई जाति ही बनती है—क्योंकि सूर्यवंशादिक जिस कुलमे किसी क्षत्रियका जन्म हुआ उस कुलका निरन्वय विनाश हो जानेसे उस जन्ममें उसका कोई कुल न रहा, तब उसके लिये कुलका व्यवहार कैसे बन सकता है? क्षत्रियादि कोई जाति भी उस जातिके व्यक्तियोंके विना असम्भव है। और अनेक व्यक्ति-योंमेंसे अतद्व्यावृत्तिके ग्राहक एक चित्तका असम्भव होनेसे अन्यापोह-लक्षणा (अन्यसे अभावरूप, अक्षत्रिय व्यावृत्तिरूप) जाति भी घटित नहीं हो सकती।'

न शास्तृ-शिष्यादि-विधि-व्यवस्था
विकल्पबुद्धिर्वितथाऽखिला चेत्।
अतत्त्व-तत्त्वादि-विकल्प-मोहे
निमज्जतां वीत-विकल्प-धीः का? ॥१७॥

'(चित्तोंके प्रतिक्षण भंगुर अथवा निरन्वय-विनष्ट होनेपर) शास्ता

और शिष्यादिके स्वभाव-स्वरूपकी (भी) कोई व्यवस्था नहीं बनती—क्योंकि तब तत्त्वदर्शन, परानुग्रहको लेकर तत्त्व-प्रतिपादनकी इच्छा और तत्त्वप्रतिपादन, इन सब कालोंमें रहनेवाले किसी एक शासक (उपदेष्टा) का अस्तित्त्व नहीं बन सकता। और न ऐसे किसी एक शिष्यका ही अस्तित्त्व घटित हो सकता है जो कि शासन-श्रवण (उपदेश सुनने) की इच्छा और शासनके श्रवण, ग्रहण, धारण तथा अभ्यसनादि कालोंमें व्यापक हो। 'यह शास्ता है और मैं शिष्य हूँ' ऐसी प्रतिपत्ति भी किसीके नहीं बन सकती। और इसलिये बुद्ध-सुगतको जो शास्ता माना गया है और उनके शिष्योंकी जो व्यवस्था की गई है वह स्थिर नहीं रह सकती। इसी तरह ('आदि' शब्दसे) स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र और पौत्र-पितामह आदिकी भी कोई विधि-व्यवस्था नहीं बैठ सकती, सारा लोक-व्यवहार लुप्त हो जाता अथवा मिथ्या ठहरता है।'

'(यदि बौद्धोंकी ओरसे यह कहा जाय कि बाह्य तथा आभ्यन्तररूपसे प्रतिक्षण स्वलक्षणों (स्वपरमाणुओं) के विनश्वर होनेपर परमार्थसे तो मातृघाती आदि तथा शास्ता-शिष्यादिकी विधि-व्यवस्थाका व्यवहार सम्भव नहीं हो सकता, तब ?) **यह सब विकल्प-बुद्धि है** (जो अनादि-वासनासे समुद्भूत होकर मातृघाती आदि तथा शास्ता-शिष्यादिरूप विधि व्यवस्थाकी हेतु बनी हुई है) **और विकल्प-बुद्धि सारी मिथ्या होती है, ऐसा कहने वालों** (बौद्धों) **के यहां, जो** (स्वयं) **अतत्त्व-तत्त्वादिके विकल्प-मोहमें डूबे हुए हैं, निर्विकल्प-बुद्धि बनती कौन-सी है ?**—कोई भी सार्थिका और सच्ची निर्विकल्प-बुद्धि नहीं बनती; क्योंकि मातृघाती आदि सब विकल्प अतत्त्वरूप हैं और उनसे जो कुछ अन्य हैं वे तत्त्वरूप हैं यह व्यवस्थिति भी विकल्पवासनाके बलपर ही उत्पन्न होती है। इसी तरह 'संवृति' (व्यवहार) से 'अतत्त्व' की और परमार्थसे 'तत्त्व' की व्यवस्था भी विकल्प-शिल्पीके द्वारा ही घटित की जा सकती है—वस्तुबलसे नहीं। इस प्रकार विकल्प-मोह बौद्धोंके लिये महासमुद्रकी तरह दुष्पार ठहरता है। इस र यदि यह कहा जाय कि बुद्धोंकी धर्म-देशना ही दो सत्योंको लेकर हुई है—

एक 'लोकसंवृति सत्य' और दूसरा 'परमार्थ सत्य'[1] तो यह विभाग भी विकल्पमात्र होनेसे तात्त्विक नहीं बनता। सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित स्वलक्षण-मात्र-विषया बुद्धिको जो तात्त्विकी कहा जाता है वह भी सम्भव नहीं हो सकती; क्योंकि उसके इन्द्रियप्रत्यक्ष-लक्षणा, मानसप्रत्यक्षलक्षणा, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष लक्षणा और योगिप्रत्यक्ष-लक्षणा ऐसे चार भेद माने गये हैं, जिनकी परमार्थसे कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। प्रत्यक्ष-सामान्य और प्रत्यक्ष-विशेषका लक्षण भी विकल्पमात्र होनेसे अवास्तविक ठहरता है। और अवास्तविक लक्षण वस्तुभूत लक्ष्यको लक्षित करनेके लिये समर्थ नहीं है। क्योंकि इससे 'अतिप्रसङ्ग' दोष आता है; तब किसको किससे लक्षित किया जायगा ? किसीको भी किसीसे लक्षित नहीं किया जा सकता।'

अनर्थिका साधन-साध्य-धीश्चेद्-
विज्ञानमात्रस्य न हेतु-सिद्धिः।
अथाऽर्थवत्त्वं व्यभिचार-दोषो
न योगि-गम्यं परवादि-सिद्धम् ॥१८॥

'(यदि यह कहा जाय कि ऐसी कोई बुद्धि नहीं है जो बाह्य स्वलक्षण-के आलम्बनमें कल्पनासे रहित हो; क्योंकि स्वप्नबुद्धिकी तरह समस्त बुद्धि-समूहके आलम्बनमें भ्रान्तपना होनेसे कल्पना करनी पड़ती है, अतः अपने अंशमात्ररूप तक सीमित-विषय होनेसे विज्ञान-मात्र तत्त्वकी ही प्रसिद्धि होती है उसीको मानना चाहिये। इसपर यह प्रश्न पैदा होता है कि विज्ञानमात्रकी सिद्धि ससाधना है या निःसाधना ? यदि ससाधना है तो साध्य-साधनकी बुद्धि सिद्ध हुई, विज्ञान-मात्रता न रही। और यदि साध्य-साधनकी बुद्धिका नाम ही विज्ञान-मात्रता है तो फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह बुद्धि अनर्थिका है या अर्थवती ?) यदि साध्य-साधनकी बुद्धि अनर्थिका है—उसका कोई अर्थ नहीं—तो विज्ञानमात्र तत्त्व-

---

1. "द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्म-देशना। लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः॥"

को सिद्ध करनेके लिये जो (प्रतिभासमानत्व) हेतु दिया जाता है उसकी (स्वप्नोपलम्भ-साधनकी तरह) सिद्धि नहीं बनती और जब हेतु ही सिद्ध नहीं तब उससे (असिद्ध-साधनसे) विज्ञप्तिमात्ररूप साध्यकी सिद्धि भी नहीं बन सकती।

यदि साध्य-साधनकी बुद्धि अर्थवती है—अर्थावलम्बनको लिये हुए है—तो इसीसे प्रस्तुत हेतुके 'व्यभिचार' दोष आता है—'सर्वज्ञान निरालम्बन है ज्ञान होनेसे' ऐसा दूसरोंके प्रति कहना तब युक्त नहीं ठहरता, वह महान् दोष है, जिसका निवारण नहीं किया जा सकता; क्योंकि जैसे यह अनुमान-ज्ञान स्वसाध्यरूप आलम्बनके साथ सालम्बन है वैसे विवादापन्न (विज्ञानमात्र) ज्ञान भी सालम्बन क्यों नहीं ? ऐसा संशय उत्पन्न होता है। जब भी सर्ववस्तुसमूहको प्रतिभासमानत्व-हेतुसे विज्ञान-मात्र सिद्ध किया जाता है तब भी यह अनुमान परार्थप्रतिभासमान होते हुए भी वचनात्मक है—विज्ञानमात्रसे अन्य होनेके कारण विज्ञानमात्र नहीं है—अतः प्रकृत हेतुके व्यभिचार-दोष सुघटित एवं अनिवार्य ही है।'

'यदि (निःसाधना सिद्धिका आश्रय लेकर) विज्ञानमात्रतत्त्वको योगि-गम्य कहा जाय—यह बतलाया जाय कि साध्यके विज्ञानमात्रात्मकपना होनेपर साधनका साध्यतत्त्वके साथ अनुषङ्ग है—वह भी साध्यकी ही कोटि-में स्थित है —इसलिये समाधि-अवस्थामें योगीको प्रतिभासमान होने वाला जो संवेदनाद्वैत है वही तत्त्व है; क्योंकि स्वरूपकी स्वतः गति (ज्ञप्ति) होती है—उसे अपने आपसे ही जाना जाता है—तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यह बात परवादियोंको सिद्ध अथवा उनके द्वारा मान्य नहीं है—जो किसी योगीके गम्य हो वह परवादियोंके द्वारा मान्य ही हो ऐसी कोई बात भी नहीं है, यह तो अपनी घरेलू मान्यता ठहरा। अतः निःसाधना सिद्धिका आश्रय लेनेपर परवादियोंको विज्ञानमात्र अथवा संवेदनाद्वैत तत्त्वका प्रत्यय (बोध) नहीं कराया जासकता।'

तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पै-
र्विश्वाऽभिलापाऽऽस्पदतामतीतम् ।
न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं
सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्ति-बाह्यम् ॥१९॥

'जो (विज्ञानाऽद्वैत) **तत्त्व सकल विकल्पोंसे विशुद्ध** (शून्य) **है**—कार्य-कारण, ग्राह्य-ग्राहक, वास्य-वासक, साध्य-साधन, बाध्य-बाधक, वाच्य-वाचक भाव आदि कोई भी प्रकारका विकल्प जिसमें नहीं है—**वह स्व-संवेद्य नहीं होसकता**; क्योंकि संवेदनावस्थामें योगीके अन्य सब विकल्पोंके दूर होनेपर भी ग्राह्य-ग्राहकके आकार विकल्पात्मक संवेदनका प्रतिभासन होता है, बिना इसके वह बनता ही नहीं, और जब विकल्पात्मक संवेदन हुआ तो सकल विकल्पोंसे शून्य विज्ञानाद्वैत तत्त्व न रहा।

'(इसी तरह) **जो विज्ञानाद्वैत तत्त्व सम्पूर्ण अभिलापों** (कथन प्रकारों) **की आस्पदता** (आश्रयता) **से रहित है**—जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया और यदृच्छा (संकेत) की कल्पनाओंसे शून्य होनेके कारण उस प्रकारके किसी भी विकल्पात्मक शब्दका उसके लिये प्रयोग नहीं किया जा सकता—**वह निगद्य** (कथनके योग्य) **भी नहीं हो सकता**—दूसरोंको उसका प्रतिपादन नहीं किया जासकता।'

(अतः हे वीरजिन !) **आपकी उक्तिसे**—अनेकान्तात्मक स्याद्वादसे—**जो बाह्य है वह सर्वथा एकान्तरूप** विज्ञानाद्वैत-तत्त्व (सर्वथा विकल्प और अभिलापसे शून्य होनेके कारण) **सुषुप्ति की अवस्थाको प्राप्त है**—सुषुप्तिमें संवेदनकी जो अवस्था होती है वही उसकी अवस्था है। और इससे यह भी फलित होता है कि स्याद्वादका आश्रय लेकर ऋजुसूत्र नया-वलम्बियोंके द्वारा जो यह माना जाता है कि विज्ञानका अर्थतत्त्व विज्ञानके अर्थपर्यायके आदेशसे ही सकल-विकल्पों तथा अभिलापोंसे रहित है और व्यवहारनयावलम्बियोंके द्वारा जो उसे विकल्पों तथा अभिलापोंका आश्रय

स्थान बतलाया जाता है वह सब आपकी उक्तिसे बाह्य नहीं है—आपके सर्वथा नियम—त्यागी स्याद्वादमतके अनुरूप है।'

मूकात्म-संवेद्यवदात्म-वेद्यं
तन्म्लिष्ट-भाषा-प्रतिम-प्रलापम्।
अनङ्ग-संज्ञं तदवेद्यमन्यैः
स्यात् त्वद्‌द्विषां वाच्यमवाच्य-तत्त्वम् ॥२०॥

'गूङ्ग का स्वसंवेदन जिस प्रकार आत्मवेद्य है—अपने आपके द्वारा ही जाना जाता है—उसी प्रकार विज्ञानाद्वैततत्त्व भी आत्मवेद्य है—स्वयंके द्वारा ही जाना जाता है। आत्मवेद्य अथवा 'स्वसंवेद्य' जैसे शब्दोंके द्वारा भी उसका अभिलाप (कथन) नहीं बनता—उसका कथन गूङ्गेकी अस्पष्ट भाषाके समान प्रलाप-मात्र होनेसे निरर्थक है—वह अभिलापरूप नहीं है। साथ ही, वह अनङ्गसंज्ञ है—अभिलाप्य न होनेसे किसी भी अंगसंज्ञाके द्वारा उसका संकेत नहीं किया जासकता। और जब वह अनभिलाप्य तथा अनङ्गसंज्ञ है तब दूसरोंके द्वारा अवेद्य (अज्ञेय) है—दूसरोंके प्रति उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। ऐसा (हे वीरजिन!) आपसे—आपके स्याद्वादमतसे—द्वेष रखनेवाले जिन (संवेदनाद्वैतवादि-बौद्धों) का कहना है उनका सर्वथा अवाच्य-तत्त्व इससे वाच्य होजाता है! जो इतना भी नहीं समझते और यही कहते हैं कि वाच्य नहीं होता उनसे क्या बात की जाय?—उनके साथ तो मौनावलम्बन ही श्रेष्ठ है।'

अशासदञ्जांसि वचांसि शास्ता
शिष्याश्च शिष्टा वचनैर्न ते तैः।
अहो इदं दुर्गतमं तमोऽन्यत्
त्वया विना श्रायसमार्य! किं तत् ॥२१॥

'शास्ता-बुद्धदेवने ही (यथार्थ दर्शनादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण) अनवद्य वचनोंकी शिक्षा दी, परन्तु उन वचनोंके द्वारा उनके वे शिष्य शिक्षित नहीं हुए !' यह कथन (बौद्धोंका) अहो दूसरा दुर्गतम अन्धकार है—अतीव दुष्पार महामोह है !!—क्योंकि गुणवान शास्ताके होनेपर प्रतिपत्तियोग्य प्रतिपाद्यों–शिष्योंके लिये सत्य-वचनोंके द्वारा ही तत्त्वानुशासनका होना प्रसिद्ध है। बौद्धोंके यहाँ बुद्धदेवके शास्ता प्रसिद्ध होनेपर भी, बुद्धदेवके वचनोंको सत्यरूपमें स्वीकार करनेपर भी और (बुद्ध-प्रवचन सुननेके लिये) प्रणिहितमन (दत्तावधान) शिष्योंके मौजूद होते हुए भी वे शिष्य उन वचनोंसे शिक्षित नहीं हुए, यह कथन बौद्धों-का कैसे अमोह कहा जासकता है ?—नहीं कहा जासकता, और इस लिये बौद्धोंका यह दर्शन (सिद्धान्त) परीक्षावानोंके लिये उपहासास्पद जान पड़ता है।

(यदि यह कहा जाय कि इस शासनमें संवृतिसे—व्यवहारसे—शास्ता, शिष्य, शासन तथा शासनके उपायभूत वचनोंका सद्भाव स्वीकार किया जानेसे और परमार्थसे संवेदनाद्वैतके निःश्रेयस-लक्षणकी—निर्वाण-रूपकी—प्रसिद्धि होनेसे यह दर्शन उपहासास्पद नहीं है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) हे आर्य-वीरजिन ! आपके विना—आप जैसे स्याद्वादनायक शास्ताके अभावमें—निःश्रेयस (कल्याण अथवा निर्वाण) बनता कौन-सा है, जिससे संवेदनाद्वैतको निःश्रेयसरूप कहा जाय ? सर्वथा एकान्त-वादका आश्रय लेनेवाले शास्ताके द्वारा कुछ भी सम्भव नहीं है, ऐसा प्रमाणसे परीक्षा किये जानेपर जाना जाता है । सर्वथा एकान्तवादमें संवृति और परमार्थ ऐसे दो रूपसे कथन ही नहीं बनता और दो रूपसे कथनमें सर्वथा एकान्तवाद अथवा स्याद्वादमत का विरोध स्थिर नहीं रहता।'

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र
तल्लिङ्ग-गम्यं न तदर्थ-लिङ्गम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः
का तद्गतिः ? कष्टमश्रृण्वतां ते ॥२२॥

'जिस (संवेदनाद्वैत) तत्त्वमें प्रत्यक्षबुद्धि प्रवृत्त नहीं होती—प्रत्यक्षतः किसीके जिसका तद्रूप निश्चय नहीं बनता—उसे यदि (स्वर्ग-प्रापणशक्ति आदिकी तरह) लिङ्गगम्य माना जाय तो उसमें अर्थरूप लिङ्ग सम्भव नहीं हो सकता—क्योंकि वह स्वभावलिङ्ग उस तत्त्वकी तरह प्रत्यक्ष-बुद्धिसे अतिक्रान्त है, उसे लिङ्गान्तरसे गम्य माननेपर अनवस्था दोष आता है तथा कार्यलिङ्गका संभव माननेपर द्वैतताका प्रसङ्ग आता है—और (परार्थानुमानरूप) वचनका उसके संवेदनाद्वैतरूप विषयके साथ योग नहीं बैठता—परम्परासे भी सम्बन्ध नहीं बनता, उस संवेदनाद्वैत तत्त्वकी क्या गति है?—प्रत्यक्षा, लैङ्गिकी और शाब्दिकी कोई भी गति न होनेसे उसकी प्रतिपत्ति (बोधगम्यता) नहीं बनती, वह किसीके द्वारा जाना नहीं जासकता। अतः (हे वीरजिन!) आपको न सुननेवालोंका—आपके स्याद्वाद-शासनपर ध्यान न देने-वाले बौद्धोंका—संवेदनाद्वैत दर्शन कष्टरूप है!'

रागाद्यविद्याऽनल-दीपनं च
विमोक्ष-विद्याऽमृत-शासनं च ।
न भिद्यते संवृति-वादि-वाक्यं
भवत्प्रतीपं परमार्थ-शून्यम् ॥२३॥

'(यदि संवृतिसे संवेदनाऽद्वैत तत्त्वकी प्रतिपत्ति मानकर बौद्ध-दर्शनकी कष्टरूपताका निषेध किया जाय तो वह भी ठीक नहीं बैठता; क्योंकि संवृति वादियोंका रागादि-अविद्याऽनल-दीपन-वाक्य और विमोक्ष-विद्याऽ मृत-शासन-वाक्य परमार्थ-शून्य-विषयमें परस्पर भेदको लिये हुए नहीं बनता—अर्थात् जिस प्रकार संवृति-वादियोंके यहाँ 'अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि रागादि-अविद्याऽनलके दीपक वाक्य-समूहको परमार्थ-शून्य बतलाया जाता है उसी प्रकार उनका 'सम्यग्ज्ञान-वैतृष्ण्य-भावनातो निःश्रेयसम्' इत्यादि विमोक्षविद्याऽमृतका शासनात्मक-वाक्य-समूह भी

परमार्थ-शून्य ठहरता है, दोनोंमें परमार्थ-शून्यता-विषयक कोई भेद नहीं है; क्योंकि (हे वीर जिन !) उनमेंसे प्रत्येक वाक्य भवत्प्रतीप है— आपके अनेकान्त-शासनके प्रतिकूल सर्वथा एकान्त-विषयरूपसे ही अङ्गीकृत है—और (इस लिये) परमार्थ-शून्य है। (फलतः) आपके अनेकान्त-शासनका कोई भी वाक्य सर्वथा परमार्थ-शून्य नहीं है—मोक्ष विद्यामृतके शासनको लिये हुए वाक्य जिस प्रकार मोक्षकारणरूप परमार्थसे शून्य नहीं है उसी प्रकार रागाद्यविद्यानलका दीपक वाक्य भी बन्धकारणरूप परमार्थ-से —वास्तविकतासे—शून्य नहीं है।

विद्या-प्रसूत्यै किल शील्यमाना
भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा।
अहो त्वदीयोक्त्यनभिज्ञ-मोहो
यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥२४॥

'(हे वीर जिन !) आपकी उक्तिसे—स्याद्वादात्मककथन-शैलीसे—अनभिज्ञका—बौद्धोंके एक सम्प्रदायका—यह कैसा मोह है—विपरीताभिनिवेश है—जो यह प्रतिपादन करता है कि 'गुरुके द्वारा उपदिष्ट अविद्या भाव्यमान हुई निश्चयसे विद्याको जन्म देनेमें समर्थ होती है !' (क्योंकि) इससे जो अविद्या अविद्यान्तरके जन्मका कारण सुप्रसिद्ध है वही उसके अजन्मका भी कारण होजाती है !! और यह स्पष्ट विपरीताभिनिवेश है जो दर्शनमोहके उदयाऽभावमें नहीं बन सकता। जो मदिरापान मदजन्मके लिये प्रसिद्ध है वही मदकी अनुत्पत्तिका हेतु होनेके योग्य नहीं होता।'

"यदि कोई कहे कि 'जिस प्रकार विषभक्षण विषविकारका कारण प्रसिद्ध होते हुए भी किंचित् विषविकारके अजन्मका—उसे उत्पन्न न होने देनेका—हेतु देखा जाता है, उसी प्रकार कोई अविद्या भी भाव्यमान (विशिष्ट भावनाको प्राप्त) हुई स्वयं अविद्या-जन्मके अभावकी हेतु होगी, इसमे

विरोधकी कोई बात नहीं' तो उसका यह कथन अपर्यालोचित है; क्योंकि भ्रम-दाह-मूर्छादि विकारको जन्म देने वाला जङ्गमविष अन्य है और उसे जन्म न देने वाला—प्रत्युत उस विकारको दूर कर देने वाला—स्थावरविष अन्य ही है, जो कि उस विषका प्रतिपक्षभूत है, और इस लिये अमृत-कोटिमें स्थित है, इसीसे विषका 'अमृत' नाम भी प्रसिद्ध है। विष सर्वथा विष नहीं होता, उसे सर्वथा विष माननेपर वह विषान्तरका प्रतिपक्ष-भूत नहीं बन सकता। अतः विषका यह उदाहरण विषम है। उसे यह कह कर साम्य उदाहरण नहीं बतलाया जासकता कि अविद्या भी जो संसारकी हेतु है वह अनादि-वासनासे उत्पन्न हुई अन्य ही है और अविद्याके अनुकूल है, किन्तु मोक्षकी हेतुभूत अविद्या दूसरी है, जो अनादि-अविद्याके जन्मकी निवृत्ति करने वाली तथा विद्याके अनुकूल है, और इसलिये संसारकी हेतु अविद्याके प्रतिपक्षभूत है। क्योंकि जो सर्वदा अविद्याके प्रतिपक्षभूत है उससे अविद्याका जन्म नहीं हो सकता, उसके लिये तो विद्यात्वका प्रसङ्ग उप-स्थित होता है। यदि अनादि-अविद्याके प्रतिपक्षत्वके कारण उस अविद्याको कथञ्चित् विद्या कहा जायगा तो उससे संवृतिवादियोंके मतका विरोध होकर स्याद्वादि-मतके आश्रयका प्रसंग आएगा। क्योंकि स्याद्वादियोंके यहाँ केवल-ज्ञानरूप परमा विद्याकी अपेक्षा मतिज्ञानादिरूप क्षायोपशमिकी अपकृष्ट विद्या भी अविद्या मानी गई है—न कि अनादि-मिथ्याज्ञान-दर्शनरूप अविद्याकी अपेक्षा; क्योंकि उसके प्रतिपक्षभूत होनेसे मतिज्ञानादिके विद्यापना सिद्ध है। अतः सर्वथा अविद्यात्मक भावना गुरुके द्वारा उपदिष्ट होती हुई भी विद्याको जन्म देनेमें समर्थ नहीं है। ऐसी अविद्याके उपदेशक गुरुको भी अगुरुत्व-का प्रसंग आता है, क्योंकि विद्याका उपदेशी ही गुरु प्रसिद्ध है। और इसलिये पुरुषाद्वैतकी तरह संवेदनाद्वैत तत्त्व भी अनुपाय ही है—किसी भी उपाय अथवा प्रमाणसे वह जाना नहीं जा सकता।)

अभावमात्रं परमार्थवृत्तेः
सा संवृतिः सर्व-विशेष-शून्या ।

तस्या विशेषौ किल बन्ध-मोक्षौ
हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम् ॥२५॥

'परमार्थवृत्तिसे तत्त्व **अभावमात्र है**— न तो बाह्याभ्यन्तर निरन्वय क्षणिक परमाणुमात्र तत्त्व है, सौत्रान्तिक मतका निराकरण हो जानेसे; और न अन्तःसंवित्परमाणुमात्र या संवेदनाद्वैतमात्र तत्त्व है, योगाचारमतका निरसन हो जानेसे; किंतु माध्यमिक मतकी मान्यतानुरूप शून्यतत्त्व ही तत्त्व **है—और वह परमार्थवृत्ति संवृतिरूप है**—तात्त्विकी नहीं; क्योंकि शून्यसंवित्ति तात्त्विकी होनेपर सर्वथा शून्य तत्त्व नहीं रहता, उसका प्रतिषेध हो जाता **है—और संवृति सर्वविशेषोंसे शून्य है**—पदार्थसद्भाववादियोंके द्वारा जो तात्त्विक विशेष माने गये हैं उन सबसे रहित **है—तथा उस अविद्यात्मिका एवं सकलतात्त्विक-विशेष-शून्या संवृतिके भी जो बंध और मोक्ष विशेष हैं वे हेत्वात्मक हैं**—सांवृतरूप हेतु-स्वभावके द्वारा विधीयमान हैं अर्थात् आत्मीयाभिनिवेशके द्वारा बंधका और नैरात्म्य-भावनाके अभ्यास-द्वारा मोक्षका विधान है, दोनोंमेंसे कोई भी तात्त्विक नहीं है। और इस लिये दोनों विशेष विरुद्ध नहीं पड़ते।'; **इस प्रकार** (हे वीर जिन !) **यह उनका वाक्य है**--उन सर्वथाशून्यवादि-**बौद्धोंका कथन है--जिनके आप (अनेकान्तवादी) नाथ नहीं हैं।** (फलतः) जिनके आप नाथ हैं उन अनेकान्तवादियोंका वाक्य ऐसा नहीं है किन्तु इस प्रकार है कि—स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे सत्रूप पदार्थ ही पर-रूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे अभाव (शून्य) रूप हैं। अभावमात्रके स्वरूप-से ही असत् होनेपर उसमें परमार्थिकत्व नहीं बनता, तब परमार्थवृत्तिसे अभावमात्र कहना ही असंगत है।'

व्यतीत-सामान्य-विशेष-भावाद्
विश्वाऽभिलापाऽर्थ-विकल्प-शून्यम् ।

ख-पुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं
प्रबुद्ध-तत्त्वाद्भवतः परेषाम् ॥२६॥

'हे प्रबुद्ध-तत्त्व वीरजिन ! आप अनेकान्तवादीसे भिन्न दूसरों-का—अन्य एकान्तवादियोंका—जो सर्वथा सामान्यभावसे रहित, सर्वथा विशेषभावसे रहित तथा (परस्पर सापेक्षरूप) सामान्य-विशेषभाव दोनोंसे रहित जो तत्त्व है वह (प्रकटरूपमें शून्य तत्त्व न होते हुए भी) संपूर्ण अभिलापों तथा अर्थविकल्पोंसे शून्य होनेके कारण आकाश-कुसुमके समान अवस्तु ही है।'

व्याख्या—सामान्य और विशेषका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है—सामान्यके विना विशेषका और विशेषके विना सामान्यका अस्तित्व बन नहीं सकता। और इस लिये जो भेदवादी बौद्ध सामान्यको न मानकर सर्वतः व्यावृत्तरूप विशेष पदार्थोंको ही मानते हैं उनके वे विशेष पदार्थ भी नहीं बन सकते—सामान्यसे विशेषके सर्वथा भिन्न न होनेके कारण सामान्यके अभावमें विशेष पदार्थोंके भी अभावका प्रसंग आता है और तत्त्व सर्वथा निरुपाख्य ठहरता है। और जो अभेदवादी सांख्य सामान्यको ही एक प्रधान मानते हैं और कहते हैं कि महत्-अहङ्कारादि विशेष चूंकि सामान्य-के विना नहीं होते इस लिये वे अपना कोई अलग (पृथक्) व्यक्तित्व (अस्तित्व) नहीं रखते—अव्यक्त सामान्यके ही व्यक्तरूप हैं—उनके सकल विशेषोंका अभाव होनेपर विशेषोंके साथ अविनाभावी सामान्यके भी अभावका प्रसंग आता है और व्यक्ताऽव्यक्तात्मक भोग्यके अभाव होनेपर भोक्ता आत्माका भी असंभव ठहरता है। और इस तरह उन सांख्योंके, न चाहते हुए भी, सर्वशून्यत्वकी सिद्धि घटित होती है। व्यक्त और अव्य-क्तमें कथञ्चित् भेद माननेपर स्याद्वाद-न्यायके अनुसरणका प्रसंग आता है और तब वह वाक्य (वचन) उनका नहीं रहता जिनके आप वीरजिनेन्द्र नायक नहीं हैं। इसी तरह परस्पर निरपेक्षरूपसे सामान्य-विशेष भावको माननेवाले जो यौग हैं—नैयायिक तथा वैशेषिक हैं—वे कथञ्चित् रूपसे

(परस्पर सापेक्ष) सामान्य-विशेषको न माननेके कारण व्यतीत-सामान्य-विशेष-भाववादी प्रसिद्ध ही हैं और वीरशासनसे बाह्य हैं, उनका भी तत्त्व वास्तवमें विश्वाभिलाप और अर्थ-विकल्पसे शून्य होनेके कारण, गगन-कुसुमकी तरह उसी प्रकार अवस्तु ठहरता है जिस प्रकार कि व्यतीत-सामान्य-भाववादियोंका, व्यतीत-विशेष-भाववादियोंका अथवा सर्वथा शून्य-वादियोंका तत्त्व अवस्तु ठहरता है।'

अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपाया-
द्गतिर्भवेत्तौ वचनीय-गम्यौ ।
सम्बन्धिनौ चेन्न विरोधि दृष्टं
वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत् ॥२७॥

'यदि कोई कहे कि शून्यस्वभावके अभावरूप सत्स्वभाव तत्त्वके माननेपर भी इन (बन्ध और मोक्ष) दोनोंकी उपायसे गति होती-है—उपाय-द्वारा बन्ध और मोक्ष दोनों जाने जाते हैं—, दोनों वचनीय हैं और गम्य हैं—जब परार्थरूप वचन बन्ध-मोक्षकी गति का (जान-कारी का) उपाय होता है तब ये दोनो 'वचनीय' होते हैं और जब स्वार्थरूप प्रत्यक्ष या अनुमान बन्ध-मोक्षकी गतिका उपाय होता है तब ये दोनो 'गम्य' होते हैं। साथ ही, दोनों सम्बन्धी हैं—परस्पर अविना-भाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं, बन्धके विना मोक्षकी और मोक्षके विना बन्धकी सम्भावना नहीं; क्योंकि मोक्ष बन्ध-पूर्वक होता है। और मोक्षके अभावमें बन्धको माननेपर जो पहलेसे अबद्ध है उसके पीछेसे बन्ध मानना पड़ेगा अथवा शाश्वतिक बन्धका प्रसंग आएगा। अनादि बन्ध-सन्तानकी अपेक्षासे बन्धके बन्ध-पूर्वक होते हुए भी बन्धविशेषकी अपेक्षासे बन्धके अबन्ध-पूर्वकत्वकी सिद्धि होती है, प्राक् अबद्धके ही एकदेश मोक्षरूपता होनेसे बन्ध मोक्षके साथ अविनाभावी है और इस तरह दोनो अविनाभाव-सम्बन्धसे सम्बन्धित हैं—तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इस

प्रकार सत्स्वभावरूप तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता, विरोध नजर आता है—सर्वथा क्षणिक (अनित्य) और सर्वथा अक्षणिक (नित्य) आदिरूप मान्यताएँ विरोधको लिये हुए हैं। स्याद्वाद-शासनसे भिन्न परमतमें सत्तत्त्व बनता ही नहीं—सर्वथा क्षणिक और सर्वथा अक्षणिककी मान्यतामें दूसरी जातिके (परस्पर निरपेक्ष) अनेकान्तका दर्शन होता है, जो सदोष है अथवा वस्तुतः अनेकान्त नहीं है। सत्तत्त्व सर्वथा एकान्तात्मक है ही नहीं; क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे उसकी उपलब्धि नहीं होती।'

'(इसपर यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भले ही सत्तत्त्वकी उपलब्धि (दर्शन-प्राप्ति) न होती हो, परन्तु परपक्षके दूषणसे तो उसकी सिद्धि होती ही है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) **जो यथार्थ वाच्य होता है वह दूषणरूप नहीं होता**—जिसको क्षणिक-एकान्तवादी परपक्षमें स्वयं दूषण बतलाता है उसमें यथार्थ-वाच्यता होनेसे अथवा परपक्षकी तरह स्वपक्षमें भी उसका सद्भाव होनेसे उसे दूषणरूप नहीं कह सकते, वह दूषणाभास है। और जो दूषण परपक्षकी तरह स्वपक्षका भी निराकरण करता हो वह यथार्थ वाच्य नहीं हो सकता। वास्तवमें दोनों सर्वथा एकान्तोंसे, विरोधके कारण, अनेकान्तकी निवृत्ति होती है, अनेकांतकी निवृत्तिसे क्रम और अक्रम निवृत्त होजाते हैं, क्रम-अक्रमकी निवृत्तिसे अर्थ-क्रियाकी निवृत्ति हो जाती है—क्रम-अक्रमके विना कहीं भी अर्थ-क्रियाकी उपलब्धि नहीं होती—और अर्थ-क्रियाकी निवृत्ति होनेपर वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था नहीं बनती; क्योंकि वस्तुतत्त्वकी अर्थ-क्रियाके साथ व्याप्ति है। और इसलिये सर्वथा एकान्तमें सत्तत्त्व की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती।'

उपेय-तत्त्वाऽनभिलाप्यता-वद्-
उपाय-तत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात् ।
अशेष-तत्त्वाऽनभिलाप्यतायां
द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः ॥२८॥

'(हे वीर जिन !) आपकी युक्तिकी—स्याद्वादनीतिकी—अभिलाप्यताके जो द्वेषी हैं—सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व स्वरूपादि-चतुष्टयकी (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी) अपेक्षा कथञ्चित् सत्‌रूप ही है, पररूपादि-चतुष्टयकी (परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी) अपेक्षा कथञ्चित् असत्‌रूप ही है इत्यादि कथनीके साथ द्वेषभाव रखते हैं—उन द्वेषियोंकी इस मान्यतापर कि 'सम्पूर्ण तत्त्व अनभिलाप्य (अवाच्य) है' उपेयतत्त्वकी अवाच्यताके समान उपायतत्त्व भी सर्वथा अवाच्य (अवक्तव्य) हो जाता है—जिस प्रकार निःश्रेयस (निर्वाण-मोक्ष) तत्त्वका कथन सर्वथा नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उसकी प्राप्तिके उपायभूत निर्वाणमार्गका कथन भी सर्वथा नहीं किया जा सकता; क्योंकि दोनोंमें परस्पर तत्त्व-विषयक कोई विशेषता नहीं है ।'

> अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावा-
> दवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
> स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि
> स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥२९॥

'(अशेष तत्त्व सर्वथा अवाच्य है ऐसी एकान्त मान्यता होने पर) तत्त्व अवाच्य ही है ऐसा कहना अयथाप्रतिज्ञ—प्रतिज्ञाके विरुद्ध—होजाता है; क्योंकि 'अवाच्य' इस पदमें ही वाच्यका भाव है—वह किसी बातको बतलाता है, तब तत्त्व सर्वथा अवाच्य न रहा । यदि यह कहा जाय कि तत्त्व स्वरूपसे अवाच्य ही है तो 'सर्व वचन स्वरूपवाची है' यह कथन प्रतिज्ञाके विरुद्ध पड़ता है । और यदि यह कहा जाय कि पररूपसे तत्त्व अवाच्य ही है तो 'सर्ववचन पररूपवाची है' यह कथन प्रतिज्ञाके विरुद्ध ठहरता है ।'

[इस तरह तत्त्व न तो भावमात्र है, न अभावमात्र है, न उभयमात्र है और न सर्वथा अवाच्य है । इन चारों मिथ्याप्रवादोंका यहां तक निरसन

किया गया है। इसी निरसनके सामर्थ्यसे सदवाच्यादि शेष मिथ्याप्रवादोंका भी निरसन हो जाता है। अर्थात् न्यायकी समानतासे यह फलित होता है कि न तो सर्वथा सदवाच्य तत्त्व है, न असदवाच्य, न उभयाऽवाच्य और न अनुभयाऽवाच्य।]

सत्याऽनृतं वाऽप्यनृताऽनृतं वा-
ऽप्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन।
युक्तं प्रतिद्वन्द्व्यनुबन्धि-मिश्रं
न वस्तु तादृक् त्वदृते जिनेदृक् ॥३०॥

'कोई वचन सत्याऽनृत ही है, जो प्रतिद्वन्द्वीसे मिश्र है—जैसे शाखापर चन्द्रमाको देखो, इस वाक्यमें 'चन्द्रमाको देखो' तो सत्य है और 'शाखापर' यह वचन विसंवादी होनेसे असत्य है। दूसरा कोई वचन अनृताऽनृत ही है, जो अनुबन्धिसे मिश्र है—जैसे पर्वतपर चन्द्र-युगलको देखो, इसमें 'चन्द्रयुगल' वचन जिस तरह असत्य है उसी तरह 'पर्वतपर' यह वचन भी विसंवादि-ज्ञानपूर्वक होनेसे असत्य है। इस प्रकार हे वीर जिन! आप स्याद्वादीके विना वस्तुके अति-शायनसे—सर्वथा प्रकारसे अभिधेयके निर्देश-द्वारा—प्रवर्तमान जो वचन है वह क्या युक्त है?—युक्त नहीं है। (क्योंकि) स्याद्वादसे शून्य उस प्रकारका अनेकान्त वास्तविक नहीं है—वह सर्वथा एकान्त है और सर्वथा एकान्त अवस्तु होता है।'

सह-क्रमाद्वा विषयाऽल्प-भूरि-
भेदेऽनृतं भेदि न चाऽऽत्मभेदात्।
आत्मान्तरं स्याद्भिदुरं समं च
स्याच्चाऽनृतात्माऽनभिलाप्यता च ॥३१॥

'विषय (अभिधेय) का अल्प-भूरि भेद—अल्पाऽनल्प विकल्प—

होनेपर अनृत (असत्य) भेदवान् होता है—जैसे जिस वचनमें अभिधेय अल्प असत्य और अधिक सत्य हो उसे 'सत्याऽनृत' कहते हैं, इसमें सत्य विशेषणसे अनृतको भेदवान् प्रतिपादित किया जाता है। और जिस वचनका अभिधेय अल्प सत्य और अधिक असत्य हो उसे 'अनृताऽनृत' कहते हैं, इसमें अनृत विशेषणसे अनृतको भेदरूप प्रतिपादित किया जाता है। आत्मभेदसे अनृत भेदवान् नहीं होता—क्योंकि सामान्य अनृतात्माके द्वारा भेद घटित नहीं होता। अनृतका जो आत्मान्तर—आत्मविशेष लक्षण—है वह भेद-स्वभावको लिये हुए है—विशेषणके भेदसे, और सम (अभेद) स्वभावको लिये हुए है—विशेषणभेदके अभावसे। साथ ही ('च' शब्दसे) उभयस्वभावको लिये हुए है—हेतुद्वयके अर्पणाक्रमकी अपेक्षा। (इसके सिवाय) अनृतात्मा अनभिलाप्यता (अवक्तव्यता) को प्राप्त है—एक साथ दोनों धर्मोंका कहा जाना शक्य न होने के कारण; और (द्वितीय 'च' शब्दके प्रयोगमें) भेदि अनभिलाप्य, अभेदि-अनभिलाप्य और उभय (भेदाऽभेदि) अनभिलाप्यरूप भी वह है—अपने अपने हेतुकी अपेक्षा। इसतरह अनृतात्मा अनेकान्तदृष्टिसे भेदाऽभेदकी सप्तभंगीको लिये हुए है।'

न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेक-
मात्मान्तरं सर्व-निषेध-गम्यम् ।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधि-भेदात्
स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषेः परेषाम् ॥३२॥

'तत्त्व न तो सन्मात्र—सत्ताद्वैतरूप—है और न असन्मात्र—सर्वथा अभावरूप—है; क्योंकि परस्पर निरपेक्ष सत्तत्त्व और असत्तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता—किसी भी प्रमाणसे उपलब्ध न होनेके कारण उसका होना असम्भव है। इसी तरह (सत् असत्, एक, अनेक आदि) सर्वधर्मोंके निषेधका विषयभूत कोई एक आत्मान्तर—

परमब्रह्म—तत्त्व भी नहीं देखा जाता—उसका भी होना असम्भव है। हाँ, सत्वाऽसत्वसे विमिश्र परस्पराऽपेक्षरूप तत्त्व जरूर देखा जाता है और वह उपाधिके—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप तथा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप विशेषणोंके—भेदसे है अर्थात् सम्पूर्णतत्त्व स्यात् सत्‌रूप ही है, स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा; स्यात् असत्‌रूप ही है, पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा; स्यात् उभयरूप ही है, स्व-पर-रूपादिचतुष्टय-द्वयके क्रमार्पणाकी अपेक्षा; स्यात् अवाच्यरूप ही है, स्व-पर-रूपादि-चतुष्टय-द्वयके सहार्पणकी अपेक्षा; स्यात्सदवाच्यरूप ही है, स्वरूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा तथा युगपत्स्व-पर-रूपादिचतुष्टयोंके कथनकी अशक्तिकी अपेक्षा; स्यात् असदवाच्य रूप ही है, पररूपादि-चतुष्टयकी अपेक्षा तथा स्व-पर-रूपादि-चतुष्टयोंके युगपत् कहनेकी अशक्तिकी अपेक्षा; और स्यात् सदसदवाच्यरूप है, क्रमार्पित स्व-पर-रूपादिचतुष्टय-द्वयकी अपेक्षा तथा सहार्पित उक्त चतुष्टयद्वयकी अपेक्षा। इस तरह तत्त्व सत् असत् आदिरूप विमिश्रित देखा जाता है और इसलिये हे वीर जिन! वस्तुके अतिशायनसे (सर्वथा निर्देशद्वारा) किञ्चित् सत्याऽनृतरूप वचन आपके ही युक्त हैं। आप ऋषिराजसे भिन्न जो दूसरे सर्वथा सत् आदि रूप एकान्तोंके वादी हैं उनके यह वचन अथवा इस रूप तत्त्व स्वप्नमें भी सम्भव नहीं है।'

प्रत्यक्ष-निर्देशवदप्यसिद्ध-
मकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम्।
विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो
न तावक-द्वेषिणि वीर! सत्यम्॥३३॥

'(यदि यह कहा जाय कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष निरंश वस्तुका प्रतिभासी ही है, धर्मि-धर्मात्मकरूप जो सांश वस्तु है उसका प्रतिभासी नहीं—उसका प्रतिभासी वह सविकल्पक ज्ञान है जो निर्विकल्पक प्रत्यक्षके अनन्तर

उत्पन्न होता है; क्योंकि उसीसे यह धर्मी है यह धर्म है ऐसे धर्मि-धर्म-व्यवहारकी प्रवृत्ति पाई जाती है। अतः सकल कल्पनाओंसे रहित प्रत्यक्षके द्वारा निरंश स्वलक्षणका जो अदर्शन बतलाया जाता है वह असिद्ध है, तब ऐसे असिद्ध अदर्शन साधनसे उस निरंश वस्तुका अभाव कैसे सिद्ध किया जासकता है ? तो इस बौद्ध प्रश्नका उत्तर यह है कि—)

'जो प्रत्यक्षके द्वारा निर्देशको प्राप्त (निर्दिष्ट होनेवाला) **हो**—प्रत्यक्ष ज्ञानसे देखकर 'यह नीलादिक है' इस प्रकारके वचन-विना ही अंगुलीसे जिसका प्रदर्शन किया जाता हो—**ऐसा तत्त्व भी असिद्ध है; क्योंकि जो प्रत्यक्ष अकल्पक है**—सभी कल्पनाओंसे रहित निर्विकल्पक है—**वह दूसरोंको** (संशयित-विनेयो अथवा संदिग्ध-व्यक्तियोंको) **तत्त्वके बतलाने-दिखलानेमें किसी तरह भी समर्थ नहीं होता है।** (इसके सिवाय) **निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी असिद्ध है; क्योंकि** (किसी भी प्रमाण-के द्वारा) **उसका ज्ञापन अशक्य है।** प्रत्यक्षप्रमाणसे तो वह इसलिये ज्ञापित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह परप्रत्यक्षके द्वारा असंवेद्य है। और अनुमान प्रमाणके द्वारा भी उसका ज्ञापन नहीं बनता; क्योंकि उस प्रत्यक्षके साथ अविनाभावी लिङ्ग (साधन) का ज्ञान असंभव है—दूसरे लोग जिन्हें लिङ्ग-लिङ्गीके सम्बन्धका ग्रहण नहीं हुआ उन्हें अनुमानके द्वारा उसे कैसे बतलाया जा सकता है ? नहीं बतलाया जा सकता। और जो स्वयं प्रतिपन्न है—निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तथा उसके अविनाभावी लिङ्गको जानता है—उसके निर्विकल्पक प्रत्यक्षका ज्ञापन करानेके लिये अनुमान निरर्थक है। समारोपादिकी—भ्रमोत्पत्ति और अनुमानके द्वारा उसके व्यवच्छेदकी—बात कहकर उसे सार्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि साध्य-साधनके सम्बन्धसे जो स्वयं अभिज्ञ है उसके तो समारोपका होना ही असंभव है और जो अभिज्ञ नहीं है उसके साध्य-साधन-सम्बन्धका ग्रहण ही सम्भव नहीं है, और इसलिये गृहीतकी विस्मृति जैसी कोई बात नहीं बन सकती। इस तरह अकल्पक प्रत्यक्षका कोई ज्ञापक न होनेसे उसकी व्यवस्था नहीं बनती; तब उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? और

जब उसकी ही सिद्धि नहीं तब उसके द्वारा निर्दिष्ट होनेवाले निरंश वस्तु-तत्त्वकी सिद्धि कैसे बन सकती है ? नहीं बन सकती। अतः दोनों ही असिद्ध ठहरते हैं।'

'प्रत्यक्षकी सिद्धिके विना उसका लक्षणार्थ भी नहीं बन सकता— 'जो ज्ञान कल्पनासे रहित है वह प्रत्यक्ष है' ('प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' 'कल्पना-पोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्') ऐसा बौद्धोंके द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यक्ष-लक्षण-का जो अर्थ प्रत्यक्षका बोध कराना है वह भी घटित नहीं हो सकता। **अतः हे वीर भगवन ! आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वादशासनका जो द्वेषी है**– सर्वथा सत् आदिरूप एकान्तवाद है—**उसमें सत्य घटित नहीं होता**—एकान्ततः सत्यको सिद्ध नहीं किया जा सकता।'

> **कालान्तरस्थे क्षणिके ध्रुवे वा-**
> **ऽपृथक्पृथक्त्वाऽवचनीयतायाम्।**
> **विकारहाने र्न च कर्तृ कार्ये**
> **वृथा श्रमोऽयं जिन ! विद्विषां ते ॥३४॥**

'पदार्थके कालान्तरस्थायी होने पर—जन्मकालसे अन्यकालमें ज्योंका त्यों अपरिणामी रूपसे अवस्थित रहने पर—, **चाहे वह अभिन्न हो भिन्न हो या अनिर्वचनीय हो, कर्ता और कार्य दोनों भी उसी प्रकार नहीं बन सकते जिस प्रकार कि पदार्थके सर्वथा** क्षणिक (अनित्य) **अथवा ध्रुव** (नित्य) **होने पर नहीं बनते**'; **क्योंकि तब विकारकी निवृत्ति होती है**--विकार परिणामको कहते हैं, जो स्वयं अवस्थित द्रव्यके पूर्वाकारके परित्याग, स्वरूपके अत्याग और उत्तरोत्तरा-कारके उत्पादरूप होता है। विकारकी निवृत्ति क्रम और अक्रमको निवृत्त करती है; क्योंकि क्रम–अक्रमकी विकारके साथ व्याप्ति (अविनाभाव

१. देखो, इसी ग्रन्थकी कारिका ८, १२ आदि तथा देवागमकी कारिका ३७, ४१ आदि।

सम्बन्धकी प्राप्ति) है। क्रम-अक्रमकी निवृत्ति क्रियाको निवृत्त करती है; क्योंकि क्रियाके साथ उनकी व्याप्ति है। क्रियाका अभाव होने पर कोई कर्ता नहीं बनता; क्योंकि क्रियाधिष्ठ स्वतंत्र द्रव्यके ही कर्तृत्वकी सिद्धि होती है। और कर्ताके अभावमें कार्य नहीं बन सकता—स्वयं समीहित स्वर्गाऽपवर्गादिरूप किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। (अतः) हे वीर जिन ! आपके द्वेषियोंका—आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-शासनसे द्वेष रखनेवाले (बौद्ध, वैशेषिक, नैय्यायिक, सांख्य आदि) सर्वथा एकान्तवादियोंका—यह श्रम—स्वर्गाऽपवर्गादिकी प्राप्तिके लिये किया गया यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदिरूप संपूर्ण दृश्यमान तपोलक्षण प्रयास—व्यर्थ है—उससे सिद्धान्ततः कुछ भी साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती।'

[यहां तकके इस सब कथन-द्वारा आचार्य महोदय स्वामी समन्तभद्रने अन्य सब प्रधान प्रधान मतोंको सदोष सिद्ध करके 'समन्तदोषं मतमन्यदीयम्' इस आठवीं कारिकागत अपने वाक्यको समर्थित किया है; साथ ही, 'त्वदीयं मतमद्वितीयम्' (आपका मत—शासन—अद्वितीय है) इस छठी कारिकागत अपने मन्तव्यको प्रकाशित किया है। और इन दोनोंके द्वारा 'त्वमेव महान् इतीयत्प्रतिवक्तुमीशाः वयम्' ('आप ही महान् हैं' इतना बतलानेके लिये हम समर्थ हैं) इस चतुर्थ कारिकागत अपनी प्रतिज्ञाको सिद्ध किया है।]

मद्याङ्गवद्भूत-समागमे ज्ञः
शक्त्यन्तर-व्यक्तिरदैव-सृष्टिः।
इत्यात्म-शिश्नोदर-पुष्टि-तुष्टै-
र्निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥

'जिस प्रकार मद्याङ्गोंके—मद्यके अंगभूत पिष्टोदक, गुड, धातकी आदिके—समागम (समुदाय) पर मदशक्तिकी उत्पत्ति अथवा आवि-

भूति होती है उसी तरह भूतोंके—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तत्त्वोंके—समागमपर चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है—वह कोई जुदा तत्त्व नहीं है, उन्हींका सुख-दुःख-हर्ष-विषाद-विवर्त्तात्मक स्वाभाविक परिणामविशेष है। और यह सब शक्तिविशेषकी व्यक्ति है, कोई दैव-सृष्टि नहीं है। इस प्रकार यह जिनका—कार्यवादी अविद्धकर्णादि तथा अभिव्यक्तिवादी पुरन्दरादि चार्वाकोंका—सिद्धांत है उन अपने शिश्न (लिङ्ग) तथा उदरकी पुष्टिमें ही सन्तुष्ट रहनेवाले निर्लज्जों तथा निर्भयोंके द्वारा हा! कोमलबुद्धि—भोले मनुष्य—ठगे गये हैं !!'

व्याख्या—यहां स्तुतिकार स्वामी समन्तभद्रने उन चार्वाकोंकी प्रवृत्ति पर भारी खेद व्यक्त किया है जो अपने लिङ्ग तथा उदरकी पुष्टिमें ही सन्तुष्ट रहते हैं—उसीको सब कुछ समझते हैं; 'खाओ, पीओ, मौज उड़ाओ' यह जिनका प्रमुख सिद्धांत है; जो मांस खाने, मदिरा पीने तथा चाहे जिससे—माता, बहिन, पुत्रीसे भी—कामसेवन (भोग) करनेमें कोई दोष नहीं देखते; जिनकी दृष्टिमें पुण्य-पाप और उनके कारण शुभ-अशुभ कर्म कोई चीज़ नहीं; जो परलोकको नहीं मानते, जीवको भी नहीं मानते और अपरिपक्वबुद्धि भोले जीवोंको यह कह कर ठगते हैं कि—'जानने वाला जीव कोई जुदा पदार्थ नहीं है, पृथ्वी जल अग्नि और वायु ये चार मूल तत्त्व अथवा भूत पदार्थ हैं, इनके संयोगसे शरीर–इन्द्रिय तथा विषय-सञ्ज्ञाकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है और इन शरीर-इन्द्रिय-विषयसंज्ञासे चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है। इस तरह चारों भूत चैतन्यके परम्परा कारण हैं और शरीर इन्द्रिय तथा विषयसंज्ञा ये तीनों एक साथ उसके साक्षात् कारण हैं। यह चैतन्य गर्भसे मरण-पर्यन्त रहता है और उन पृथ्वी आदि चारों भूतोंका उसी प्रकार शक्तिविशेष है जिस प्रकार कि मद्यके अंगरूप पदार्थोंका (आटा-मिला जल, गुड़ और धातकी आदिका) शक्तिविशेष मद (नशा) है। और जिस प्रकार मदको उत्पन्न करनेवाले शक्तिविशेषकी व्यक्ति कोई दैवकृत-सृष्टि नहीं देखी जाती बल्कि मद्यके अंगभूत असाधारण और साधारण पदार्थोंका समागम होने पर स्वभावसे

ही वह होती है उसी प्रकार ज्ञानके हेतुभूत शक्तिविशेषकी व्यक्ति भी किसी दैवसृष्टिका परिणाम नहीं है बल्कि ज्ञानके कारण जो असाधारण और साधारण भूत (पदार्थ) हैं उनके समागमपर स्वभावसे ही वह होती है। अथवा हरीतकी (हरड़) आदिमें जिस प्रकार विरेचन (जुलाब) की शक्ति स्वाभाविकी है—किसी देवताको प्राप्त होकर हरीतकी विरेचन नहीं करती है—उसी प्रकार इन चारों भूतोंमें भी चैतन्यशक्ति स्वाभाविकी है। हरीतकी यदि कभी और किसीको विरेचन नहीं करती है तो उसका कारण या तो हरीतकी आदि योगके पुराना हो जानेके कारण उसकी शक्तिका जीर्ण-शीर्ण हो जाना होता है और या उपयोग करनेवालेको शक्तिविशेषकी अप्रतीति उसका कारण होती है। यही बात चारों भूतोंका समागम होनेपर भी कभी और कहीं चैतन्यशक्तिकी अभिव्यक्ति न होनेके विषयमें समझना चाहिये। इस तरह जब चैतन्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं और चारों भूतोंकी शक्ति-विशेषके रूपमें जिस चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है वह मरणपर्यन्त ही रहता है—शरीरके साथ उसकी भी समाप्ति हो जाती है—तब परलोकमें जानेवाला कोई नहीं बनता। परलोकीके अभावमे परलोकका भी अभाव ठहरता है, जिसके विषयमें नरकादिका भय दिखलाया जाता तथा स्वर्गादिकका प्रलोभन दिया जाता है। और दैव (भाग्य) का अभाव होनेसे पुण्य-पाप कर्म तथा उनके साधन शुभ-अशुभ अनुष्ठान कोई चीज नहीं रहते—सब व्यर्थ ठहरते हैं। और इस लिये लोक-परलोकके भय तथा लज्जाको छोड़कर यथेष्ट रूपमें प्रवर्तना चाहिये—जो जीमे आवे वह करना तथा खाना-पीना चाहिये। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि 'तपश्चरण तो नाना प्रकारकी कोरी यातनाएँ हैं, संयम भोगोंका वंचक है और अग्निहोत्र तथा पूजादिक कर्म बच्चोंके खेल हैं"[1], इन सबमें कुछ भी नहीं धरा है।'

इस प्रकारके ठगवचनों-द्वारा जो लोग भोले जीवोंको ठगते हैं—पाप

---

१ "तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवंचकः।
अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते॥"

और पर लोकके भयको हृदयोंसे निकालकर तथा लोक-लाजको भी उठाकर उनकी पापमें निरंकुश प्रवृत्ति कराते है, ऐसे लोगोंको आचार्यमहोदयने जो 'निर्भय' और 'निर्लज्ज' कहा है वह ठीक ही है। ऐसे लोग विवेक-शून्य होकर स्वयं विषयोंमें अन्धे हुए दूसरोंको भी उन पापोंमें फँसाते हैं, उनका अधः-पतन करते हैं और उसमें आनन्द मनाते हैं, जो कि एक बहुत ही निकृष्ट प्रवृत्ति है।

यहां भोले जीवोंके ठगाये जानेकी बात कहकर आचार्य-महोदयने प्रकारान्तरसे यह भी सूचित किया है कि जो प्रौढ बुद्धिके धारक विचार-वान् मनुष्य हैं वे ऐसे ठग-वचनोंके द्वारा कभी ठगाये नहीं जा सकते। वे जानते हैं कि परमार्थसे जो अनादि-निधन उपयोग-लक्षण चैतन्यस्वरूप आत्मा है वह प्रमाणसे प्रसिद्ध है और पृथिव्यादि भूतोंके समागमपर चैतन्यका सर्वथा उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होना व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता। क्योंकि शरीराकार-परिणत पृथिव्यादि भूतोंके संगत, अवि-कल और अनुपहतवीर्य होनेपर भी जिस चैतन्यशक्तिके वे अभिव्यञ्जक कहे जाते हैं उसे या तो पहलेसे सत् कहना होगा या असत् अथवा उभयरूप। इन तीन विकल्पोंके सिवाय दूसरी कोई गति नहीं है। यदि अभिव्यक्त होनेवाली चैतन्यशक्तिको पहलेसे सत्रूप (विद्यमान) माना जायगा तो सर्वदा सत्रूप शक्तिकी ही अभिव्यक्ति सिद्ध होनेसे चैतन्यशक्ति-के अनादित्व और अनन्तत्वकी सिद्धि ठहरेगी। और उसके लिये यह अनु-मान सुघटित होगा कि—'चैतन्यशक्ति कथंचित् नित्य है, क्योंकि वह सत्रूप और अकारण है 'जैसे कि पृथिवी आदि भूतसामान्य।' इस अनुमानमें सदकारणत्व' हेतु व्यभिचारादि दोषोंसे रहित होनेके कारण समीचीन है और इसलिये चैतन्यशक्तिको अनादि-अनन्त अथवा कथञ्चित् नित्य सिद्ध करनेमें समर्थ है।

यदि यह कहा जाय कि पिष्टोदकादि मद्यांगोंसे अभिव्यक्त होनेवाली मदशक्ति पहलेसे सत्रूप होते हुए भी नित्य नहीं मानी जाती और इस-

लिये उस सत् तथा अकारणरूप मदशक्तिके साथ हेतुका विरोध है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि वह मदशक्ति भी कथञ्चिन्नित्य है और उसका कारण यह है कि चेतनद्रव्यके ही मदशक्तिका स्वभावपना है, सर्वथा अचेतनद्रव्योंमें मदशक्तिका होना असम्भव है; इसीसे द्रव्यमन तथा द्रव्येन्द्रियोंके, जो कि अचेतन हैं, मदशक्ति नहीं बन सकती--भावमन और भावेन्द्रियोंके ही, जो कि चेतनात्मक हैं, मदशक्तिकी सम्भावना है। यदि अचेतन द्रव्य भी मदशक्तिको प्राप्त होवे तो मद्यके भाजनों अथवा शराबकी बोतलोंको भी मद अर्थात् नशा होना ,चाहिये और उनकी भी चेष्टा शराबियों जैसी होनी चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुतः चेतनद्रव्यमें मदशक्तिकी अभिव्यक्तिका बाह्य कारण मद्यादिक और अन्तरङ्ग कारण मोहनीय कर्मका उदय है—मोहनीयकर्मके उदय-विना बाह्यमें मद्यादिका संयोग होते हुए भी मदशक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। चुनाँचे मुक्तात्माओंमें दोनों कारणोंका अभाव होनेसे मदशक्ति-की अभिव्यक्ति नहीं बनती। और इसलिये मदशक्तिके द्वारा उक्त सद्-कारणत्व, हेतुमें व्यभिचार दोष घटित नहीं हो सकता, वह चैतन्यशक्तिका नित्यत्व सिद्ध करनेमें समर्थ है। चैतन्यशक्तिका नित्यत्व सिद्ध होनेपर परलोकी और परलोकादि सब सुघटित होते हैं। जो लोग परलोकीको नहीं मानते उन्हें यह नहीं कहना चाहिए कि 'पहलेसे सत्रूपमें विद्यमान चैत-न्यशक्ति अभिव्यक्त होती है।'

यदि यह कहा जाय कि अविद्यमान चैतन्यशक्ति अभिव्यक्त होती है तो यह प्रतीतिके विरुद्ध है; क्योंकि जो सर्वथा असत् हो ऐसी किसी भी चीज़की अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। और यदि यह कहा जाय कि कथ-ञ्चित् सत्रूप तथा कथञ्चित् असत्रूप शक्ति ही अभिव्यक्त होती है तो इससे परमतकी—स्याद्वाद शासनकी—सिद्धि होती है; क्योंकि स्याद्वादियोंको उस चैतन्यशक्तिकी कायाकार-परिणत-पुद्गलोंके द्वारा अभिव्यक्ति अभीष्ट है जो द्रव्यदृष्टिसे सत्रूप होते हुए भी पर्यायदृष्टिसे असत् बनी हुई है। और इसलिये सर्वथा चैतन्यकी अभिव्यक्ति प्रमाण-बाधित है, जो

उसका जैसे तैसे वंचक-वचनोंके रूपमें प्रतिपादन करते हैं उन चार्वाकोंके द्वारा सुकुमारबुद्धि मनुष्य निःसन्देह ठगाये जाते हैं।

इसके सिवाय, जिन चार्वाकोंने चैतन्यशक्तिको भूतसमागमका कार्य माना है उनके यहां सर्व चैतन्य शक्तियोंमें अविशेषका प्रसङ्ग उपस्थित होता है—किसी प्रकारका विशेष न रहनेसे प्रत्येक प्राणीमें बुद्धि आदिका कोई विशेष (भेद) नहीं बनता। और विशेष पाया जाता है अतः उनकी उक्त मान्यता सदोष एवं मिथ्या है। इसी बातको अगली कारिकामें व्यक्त किया गया है।

दृष्टेऽविशिष्टे जननादि-हेतौ
विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धि-
रतावकानामपि हा! प्रपातः ॥३६॥

'जब जननादि हेतु—चैतन्यकी उत्पत्ति तथा अभिव्यक्तिका कारण पृथिवी आदि भूतोंका समुदाय—**अविशिष्ट देखा जाता है**—उसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती और दैवसृष्टि (भाग्यनिर्माणादि) का अस्वीकार किया जाता है—**तब इन (चार्वाकों) के प्राणि प्राणिके प्रति क्या विशेषता बन सकती है?**—कारणमें विशिष्टताके न होनेसे भूत-समागमकी और तज्जन्य अथवा तदभिव्यक्त चैतन्यकी कोई भी विशिष्टता नहीं बन सकती; तब इस दृश्यमान बुद्धयादि चैतन्यके विशेषको किस आधारपर सिद्ध किया जायगा? कोई भी आधार उसके लिये नहीं बनता।'

'(इसपर) **यदि उस विशिष्टताकी सिद्धि स्वभावसे ही मानी जाय तो फिर चारों भूतोंसे भिन्न पाँचवें आत्मतत्त्वकी सिद्धि स्वभावसे क्यों नहीं मानी जाय?**—उसमें क्या बाधा आती है और इसे न मान कर 'भूतोंका कार्य चैतन्य' माननेसे क्या नतीजा, जो किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता? क्योंकि यदि कायाकार-परिणत भूतोंका

कार्य होनेसे चैतन्यकी स्वभावसे सिद्धि है तो यह प्रश्न पैदा होता है कि पृथ्वी आदि भूत उस चैतन्यके उपादान कारण हैं या सहकारी कारण ? यदि उन्हें उपादान कारण माना जाय तो चैतन्यके भूतान्वित होनेका प्रसंग आता है—अर्थात् जिस प्रकार सुवर्णके उपादान होनेपर मुकट, कुंडलादिक पर्यायोंमें सुवर्णका अन्वय (वंश) चलता है तथा पृथ्वी आदिके उपादान होनेपर शरीरमें पृथ्वी आदिका अन्वय चलता है उसी प्रकार भूतचतुष्टयके उपादान होने पर चैतन्यमें भूतचतुष्टयका अन्वय चलना चाहिये—उन भूतोंका लक्षण उसमें पायाजाना चाहिये। क्योंकि उपादान द्रव्य वही कहलाता है जो त्यक्ताऽत्यक्त-आत्मरूप हो, पूर्वाऽपूर्वके साथ वर्तमान हो और त्रिकालवर्ती जिसका विषय हो[1]। परन्तु भूतसमुदाय ऐसा नहीं देखा जाता कि जो अपने पहले अचेतनाकारका त्याग करके चेतनाकारको ग्रहण करता हुआ भूतोंके धारण-ईरण-द्रव-उष्णता-लक्षण स्वभावसे अन्वित (युक्त) हो। क्योंकि चैतन्य धारणादि भूतस्वभावसे रहित जाननेमें आता है और कोई भी पदार्थ अत्यन्त विजातीय कार्य करता हुआ प्रतीत नहीं होता। भूतोंका धारणादि-स्वभाव और चैतन्य (जीव) का ज्ञान-दर्शनोपयोग-लक्षण दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण एवं विजातीय हैं। अतः अचेतनात्मक भूतचतुष्टय अत्यन्त विजातीय चैतन्यका उपादान कारण नहीं बन सकता—दोनोंमें उपादानोपादेयभाव संभव ही नहीं। और यदि भूतचतुष्टयको चैतन्यकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण माना जाय तो फिर उपादान कारण कोई और बतलाना होगा; क्योंकि विना उपादानके कोई भी कार्य संभव नहीं। जब दूसरा कोई उपादान कारण नहीं और उपादान तथा सहकारी कारणसे भिन्न तीसरा भी कोई कारण ऐसा नहीं जिससे भूत चतुष्टयको चैतन्यका जनक स्वीकार किया जा सके, तब चैतन्यकी स्वभावसे ही भूतविशेषकी तरह तत्त्वान्तरके रूपमें सिद्धि होती है। इस तत्त्वा-

---

१ "त्यक्ताऽत्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वाऽपूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्॥"

न्तर-सिद्धिको न माननेवाले जो अतावक हैं—दर्शनमोहके उदयसे आकुलित-चित्त हुए आप वीर जिनेन्द्रके मतसे बाह्य हैं—उन (जीविका-मात्र-तन्त्र-विचारकों) का भी हाय ! यह कैसा प्रपतन हुआ है, जो उन्हें संसार समुद्रके आवर्तमें गिराने वाला है !!'

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावा-
दुच्चैरनाचार-पथेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमाना-
स्त्वद्दृष्टि-बाह्या बत ! विभ्रमन्ते ॥३७॥

'स्वभावसे ही जगतकी स्वच्छन्द-वृत्ति—यथेच्छ प्रवृत्ति—है, इस लिये जगत्के ऊँचे दर्जेके अनाचारमार्गोमें—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रह नामके पाँच महापापोंमें—भी कोई दोष नहीं, ऐसी घोषणा करके—उनके अनुष्ठान-जैसी सदोष प्रवृत्तिको निर्दोष बतलाकर—जो लोग दीक्षाके समकाल ही मुक्तिको मानकर अभिमानी हो रहे हैं—सहजग्राह्य-हृदयमें मन्त्रविशेषारोपणके समय ही मुक्ति हो जाने (मुक्तिका सर्टिफिकेट मिल जाने) का जिन्हें अभिमान है—अथवा दीक्षाका निरास जैसे बने वैसे (दीक्षानुष्ठानका निवारण करनेके लिये) मुक्तिको जो (मीमांसक) अमान्य कर रहे हैं और मांस-भक्षण, मदिरापान तथा मैथुनसेवन-जैसे अनाचारके मार्गोंके विषयमें स्वभावसे ही जगत्की स्वच्छन्द प्रवृत्तिको हेतु बताकर यह घोषणा कर रहे हैं कि उसमें कोई दोष नहीं है[1] वे सब (हे वीर जिन !) आपकी दृष्टिसे—बन्ध, मोक्ष और तत्कारण-निश्चयके निबन्धनस्वरूप आपके स्याद्वाददर्शनसे—बाह्य हैं और (सर्वथा एकान्तवादी होनेसे) केवल विभ्रममें पड़े हुए हैं—तत्त्वके निश्चयको प्राप्त नहीं होते—यह बड़े ही खेद अथवा कष्टका विषय है !!'

---

१ "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।"

व्याख्या— इस कारिकामें 'दीक्षासममुक्तिमानाः' पद दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है [१]। एक अर्थमें उन मान्त्रिकोंका (मन्त्रवादियोंका) ग्रहण किया गया है जो मन्त्र-दीक्षाके समकाल ही अपनेको मुक्त हुआ समझ कर अभिमानी बने रहते हैं, अपनी दीक्षाको यम-नियम-रहित होते हुए भी अनाचारकी क्षयकारिणी समर्थदीक्षा मानते हैं और इस लिये बड़ेसे-बड़े अनाचार—हिंसादिक घोर पाप—करते हुए भी उसमें कोई दोष नहीं देखते—कहते हैं 'स्वभावसे ही यथेच्छ प्रवृत्ति होनेके कारण बड़ेसे-बड़े अनाचारके मार्ग भी दोषके कारण नहीं होते और इसलिये उन्हें उनका आचरण करते हुए भी प्रसिद्ध जीवन्मुक्तकी तरह कोई दोष नहीं लगता।' दूसरे अर्थमें उन मीमांसकोंका ग्रहण किया गया है जो कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न अनन्तज्ञानादिरूप मुक्तिका होना नहीं मानते, यम-नियमादिरूप दीक्षा भी नहीं मानते और स्वभावसे ही जगतके भूतों (प्राणियों) की स्वच्छन्द-प्रवृत्ति बतलाकर मांसभक्षण, मदिरापान और यथेच्छ मैथुनसेवन-जैसे अनाचारोंमें कोई दोष नहीं देखते। साथ ही, वेद-विहित पशुवधादि ऊँचे दर्जेके अनाचार मार्गोंको भी निर्दोष बतलाते हैं, जबकि वेद-बाह्य ब्रह्महत्यादिको निर्दोष न बतलाकर सदोष ही घोषित करते हैं। ऐसे सब लोग वीर-जिनेन्द्रकी दृष्टि अथवा उनके बतलाये हुए सन्मार्गसे बाह्य हैं, ठीक तत्त्वके निश्चयको प्राप्त न होनेके कारण सदोषको निर्दोष मानकर विभ्रममें पड़े हुए हैं और इसी लिये आचार्यमहोदयने उनकी इन दूषित प्रवृत्तियों-पर खेद व्यक्त किया है और साथ ही यह सूचित किया है कि हिंसादिक महा अनाचारोंके जो मार्ग है वे सब सदोष हैं—उन्हें निर्दोष सिद्ध नहीं किया जा सकता, चाहे वे वेदादि किसी भी आगमविहित हों या अनागम-विहित हों।

---

१ "दीक्षया समासमकाला दीक्षासमा सा चासौ मुक्तिश्च सा दीक्षासमा मुक्तिस्तस्यां मानोऽभिमानो येषां ते दीक्षासममुक्तिमानाः। अथवा दीक्षाऽसंभया भवत्येवममुक्तिं मन्यमाना मीमांसकाः।" —इति विद्यानन्दः

प्रवृत्ति-रक्तैः शम-तुष्टि-रिक्तै-
रुपेत्य हिंसाऽभ्युदयाङ्ग-निष्ठा ।
प्रवृत्तितः शान्तिरपि प्ररूढं
तमः परेषां तव सुप्रभातम् ॥३८॥

'जो लोग शम और तुष्टिसे रिक्त हैं—क्रोधादिककी शान्ति और सन्तोष जिनके पास नहीं फटकते—(और इस लिये) प्रवृत्ति-रक्त हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रहमें कोई प्रकारका नियम अथवा मर्यादा न रखकर उनमें प्रकर्षरूपसे प्रवृत्त अथवा आसक्त हैं—उन (यज्ञ-वादी मीमांसकों) के द्वारा, प्रवृत्तिको स्वयं अपनाकर, 'हिंसा अभ्यु-दय (स्वर्गादिकप्राप्ति) के हेतुकी आधारभूत है' ऐसी जो मान्यता प्रचलित की गई है वह उनका बहुत बड़ा अन्धकार है—अज्ञानभाव है। इसी तरह (वेदविहित पशुवधादिरूप) प्रवृत्तिसे शान्ति होती है ऐसी जो मान्यता है वह भी (स्याद्वादमतसे बाह्य) दूसरोंका घोर अन्ध-कार है—क्योंकि प्रवृत्ति रागादिकके उद्रेकरूप अशान्तिकी जननी है न कि अरागादिरूप शान्तिकी। (अतः हे वीरजिन !) आपका मत ही (सकल-अज्ञान-अन्धकारको दूर करनेमें समर्थ होनेसे) सुप्रभातरूप है, ऐसा सिद्ध होता है।'

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखै-
र्देवान् किलाऽऽराध्य सुखाभिगृद्धाः ।
सिद्ध्यन्ति दोषाऽपचयाऽनपेक्षा
युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥३९॥

'जीवात्माके लिये दुःखके निमित्तभूत जो शीर्षोपहारादिक हैं—अपने तथा बकरे आदिके सिरकी बलि चढ़ाना, गुग्गुल धारण करना, मकर-को भोजन कराना, पर्वतपरसे गिरना जैसे कृत्य हैं—उनके द्वारा (यक्ष-महेश्वरादि) देवोंकी आराधना करके ठीक वे ही लोग सिद्ध होते हैं—

अपनेको सिद्ध समझते तथा घोषित करते हैं—**जो दोषोंके अपचय** (विनाश) **को अपेक्षा नहीं रखते**—सिद्ध होनेके लिये राग-द्वेषादि-विकारोंको दूर करनेकी जिन्हें पर्वाह नहीं है—**और सुखाभिगृद्ध हैं**—काम-सुखादिके लोलुपी हैं !! **और यह** (सिद्धिकी मान्यतारूप प्ररूढ अन्धकार) **उन्हींके युक्त है जिनके हे वीरजिन ! आप ऋषि-गुरु नहीं हैं** !!—अर्थात् इस प्रकारकी घोर अज्ञानताको लिये हुए अन्धेरगर्दी उन्हीं मिथ्यादृष्टियोंके यहां चलती है जो आप जैसे वीतदोष-सर्वज्ञ-स्वामीके उपासक नहीं हैं। (फलतः) जो शुद्धि और शक्तिकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए आप जैसे देवके उपासक हैं--आपको अपना गुरु-नेता मानते हैं—(और इसलिये) जो हिंसादि-कर्मे विरक्तचित्त हैं, दया-दम-त्याग-समाधिकी तत्परताको लिये हुए आपके अद्वितीय शासन (मत) को प्राप्त हैं और नय-प्रमाण-द्वारा विनिश्चित परमार्थकी एवं यथावस्थित जीवादि-तत्त्वार्थोंकी प्रतिपत्तिमें कुशलमना हैं, उन सम्यग्दृष्टियोंके इस प्रकारकी मिथ्या-मान्यतारूप अन्धेरगर्दी (प्ररूढतमता) नहीं बनती; क्योंकि प्रमादसे अथवा अशक्तिके कारण कहीं हिंसादिकका आचरण करते हुए भी उसमें उनके मिथ्या-अभिनिवेशरूप पाशके लिये अवकाश नहीं होता—वे उससे अपनी सिद्धि अथवा आत्मभलाईका होना नहीं मानते ।'

[यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासन स्तोत्रमें शुद्धि और शक्तिकी परकाष्ठाको प्राप्त हुए वीरजिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आग्रहको लिये हुए मिथ्यामतोंका समूह है उस सबका संक्षेपसे निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये [1]] ।

---

[1] स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
संप्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवीं काष्ठां परामाश्रिताम् ।
निर्णीतं मतमद्वितीय-ममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥—इति विद्यानन्दः

सामान्य-निष्ठा विविधा विशेषाः
पदं विशेषान्तर-पक्षपाति ।
अन्तर्विशेषान्त-वृत्तितोऽन्यत्-
समानभावं नयते विशेषम् ॥४०॥

'(७ वीं कारिकामें 'अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं' इस वाक्यके द्वारा यह बतलाया गया है कि वीरशासनमें वस्तुतत्त्वको सामान्य-विशेषात्मक माना गया है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि जो विशेष हैं वे सामान्यमें निष्ठ (परिसमाप्त) हैं या सामान्य विशेषोंमें निष्ठ हैं अथवा सामान्य और विशेष दोनों परस्परमें निष्ठ हैं ? इसका उत्तर इतना ही है कि) **जो विविध विशेष हैं वे सब सामान्यनिष्ठ हैं**—अर्थात् एक द्रव्यमें रहने वाले क्रम-भावी और सहभावीके भेद-प्रभेदको लिये हुए जो परिस्पन्द और अपरिस्पन्द-रूप नाना प्रकारके पर्याय[1] हैं वे सब एक द्रव्यनिष्ठ होनेसे ऊर्ध्वता-सामान्य[2] में परिसमाप्त हैं। और इसलिये विशेषोंमें निष्ठ सामान्य नहीं है; क्योंकि तब किसी विशेष (पर्याय) के अभाव होनेपर सामान्य (द्रव्य) के भी अभाव का प्रसंग आयेगा, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है—किसी भी विशेषके नष्ट होनेपर

१. क्रमभावी पर्यायें परिस्पन्दरूप हैं; जैसे उत्क्षेपणादिक। सहभावी पर्यायें अपरिस्पन्दात्मक हैं और वे साधारण, साधारणाऽसाधारण और असाधारणके भेदसे तीन प्रकार हैं। सत्त्व-प्रमेयत्वादिक साधारण धर्म हैं, द्रव्यत्व-जीवत्वादिक साधारणाऽसाधारण धर्म हैं और वे अर्थ पर्यायें असाधारण हैं जो द्रव्य-द्रव्यके प्रति प्रभिद्यमान और प्रतिनियत हैं।

२. सामान्य दो प्रकारका होता है—एक ऊर्ध्वतासामान्य दूसरा तिर्यक्-सामान्य। क्रमभावी पर्यायोंमें एकत्वान्वयज्ञानके द्वारा ग्राह्य जो द्रव्य है वह ऊर्ध्वतासामान्य है और नाना द्रव्यों तथा पर्यायोंमें सादृश्यज्ञानके द्वारा ग्राह्य जो सदृशपरिणाम है वह तिर्यक् सामान्य है।

सामान्यका अभाव नहीं होता, उसकी दूसरे विशेषों-पर्यायोंमें उपलब्धि देखी जाती है और इससे सामान्यका सर्व-विशेषोंमें निष्ठ होना भी बाधित पड़ता है। फलतः दोनोंको निरपेक्षरूपसे परस्परनिष्ठ मानना भी बाधित है, उसमें दोनोंका ही अभाव ठहरता है और वस्तु आकाशकुसुमके समान अवस्तु हो जाती है।'

'(यदि विशेष सामान्यनिष्ठ हैं तो फिर यह शंका उत्पन्न होती है कि वर्णसमूहरूप पद किसे प्राप्त करता है—विशेषको, सामान्यको, उभयको या अनुभयको, अर्थात् इनमेंसे किसका बोधक या प्रकाशक होता है ? इसका समाधान यह है कि) पद जो कि विशेषान्तरका-पक्षपाती होता है—द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन प्रकारके विशेषोंमेंसे किसी एकमें प्रवर्तमान हुआ दूसरे विशेषोंको भी स्वीकार करता है, अस्वीकार करनेपर किसी एक विशेष में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं बनती—वह विशेषको प्राप्त कराता है अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्ममेंसे एक को प्रधानरूपसे प्राप्त कराता है तो दूसरेको गौणरूपसे। साथ ही विशेषान्तरोंके अन्तर्गत उसकी वृत्ति होनेसे दूसरे (जात्यात्मक) विशेषको सामान्यरूपमें भी प्राप्त कराता है—यह सामान्य तिर्यक्सामान्य होता है। इस तरह पद सामान्य और विशेष दोनोंको प्राप्त कराता है—एक को प्रधानरूपसे प्रकाशित करता है तो दूसरेको गौण-रूपसे। विशेषकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल सामान्य और सामान्यकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल विशेष दोनों अप्रतीयमान होनेसे अवस्तु हैं, उन्हें पद प्रकाशित नहीं करता। फलतः परस्पर निरपेक्ष उभयको और अव-स्तुभूत अनुभयको भी पद प्रकाशित नहीं करता। किन्तु इन सर्वथा सामान्य, सर्वथा विशेष, सर्वथा उभय और सर्वथा अनुभयसे विलक्षण सामान्य-विशेषरूप वस्तुको पद प्रधान और गौणभावसे प्रकाशित करता हुआ यथार्थताको प्राप्त होता है; क्योंकि ज्ञाताकी उस पदसे उसी प्रकारकी वस्तुमें प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी तरह।'

यदेवकारोपहितं पदं तद्-
अस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
पर्याय-सामान्य-विशेष-सर्वं
पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥४१॥

'जो पद एवकारसे उपहित है—अवधारणार्थक 'एव' नामके निपातसे विशिष्ट है, जैसे 'जीव एव' (जीव ही)—वह **अस्वार्थसे स्वार्थ-को** (अजीवत्वसे जीवत्वको) [जैसे] **अलग करता है**—अस्वार्थ (अजीवत्व) का व्यवच्छेदक है—[वैसे] **सब स्वार्थपर्यायों** (सुख-ज्ञानादिक), **सब स्वार्थसामान्यों** (द्रव्यत्व-चेतनत्वादि) **और सब स्वार्थ-विशेषों** (अभिधानाऽविषयभूत अनन्त अर्थपर्यायों) **सभीको अलग करता है**—उन सबका भी व्यच्छेदक है; अन्यथा उस एक पदसे ही उनका भी बोध होना चाहिये, उनके लिये अलग-अलग पदोंका प्रयोग (जैसे मैं सुखी हूँ, ज्ञानी हूँ, द्रव्य हूं, चेतन हूँ, इत्यादि) व्यर्थ ठह-रता है—**और इससे** (उन क्रमभावी धर्मों–पर्यायों, सहभावी धर्मों–सामान्यों तथा अनभिधेय धर्मों–अनन्त अर्थ-पर्यायोंका व्यवच्छेद—अभाव–होनेपर) **पदार्थकी** (जीवपदके अभिधेयरूप जीवत्वकी) **भी हानि उसी प्रकार ठहरती है जिस प्रकार कि विरोधी** (अजीवत्व) **की हानि होती है**—क्योंकि स्वपर्यायो आदिके अभावमें जीवादि कोई भी अलग वस्तु संभव नहीं हो सकती ।'

(यदि यह कहा जाय कि एवकारसे विशिष्ट 'जीव' पद अपने प्रतियोगी 'अजीव' पदका ही व्यवच्छेदक होता है—अप्रतियोगी स्वपर्यायों, सामान्यों तथा विशेषोंका नहीं; क्योंकि वे अप्रस्तुत–अविवक्षित होते हैं, तो ऐसा कहना एकान्तवादियोंके लिये ठीक नहीं है; क्योंकि इससे स्याद्वाद (अनेका-न्तवाद) के अनुप्रवेशका प्रसंग आता है, और उससे उनके एकान्त सिद्धा-न्तकी हानि ठहरती है ।)

अनुक्त-तुल्यं यदनेवकारं
व्यावृत्यभावान्नियम-द्वयेऽपि ।
पर्याय-भावेऽन्यतरप्रयोग-
स्तत्सर्वमन्यच्युतमात्म-हीनम् ॥४२॥

'**जो पद एवकारसे रहित है वह अनुक्ततुल्य है**—न कहे हुएके समान है—**क्योंकि उससे** (कर्तृ-क्रिया-विषयक) **नियम-द्वयके इष्ट होनेपर भी व्यावृत्तिका अभाव होता है**—निश्चयपूर्वक कोई एक बात न कहे जानेसे प्रतिपक्षकी निवृत्ति नहीं बन सकती—**तथा** (व्यावृत्तिका अभाव होने अथवा प्रतिपक्षकी निवृत्ति न हो सकनेसे) **पदोंमें परस्पर पर्यायभाव ठहरता है, पर्यायभावके होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोंमें-से भी चाहे जिस पदका कोई प्रयोग कर सकता है और चाहे जिस पदका प्रयोग होनेपर संपूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात अन्यसे च्युत**—प्रतियोगीसे रहित—**होजाता है और जो प्रतियोगीसे रहित होता है वह आत्महीन होता है**—अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता। इस तरह भी पदार्थकी हानि ठहरती है।'

व्याख्या—उदाहरणके तौरपर 'अस्ति जीवः' इस वाक्यमे 'अस्ति' और 'जीवः' ये दोनो पद एवकारसे रहित हैं। 'अस्ति' पदके साथ अवधा-रणार्थक 'एव' शब्दके न होनेसे नास्तित्वका व्यवच्छेद नहीं बनता और नास्तित्वका व्यवच्छेद न बन सकनेसे 'अस्ति' पदके द्वारा नास्तित्वका भी प्रतिपादन होता है, और इस लिये 'अस्ति' पदके प्रयोगमें कोई विशेषता न रहनेसे वह अनुक्ततुल्य होजाता है। इसी तरह 'जीव' पदके साथ 'एव' शब्दका प्रयोग न होनेसे अजीवत्वका व्यवच्छेद नहीं बनता और अजीव-त्वका व्यवच्छेद न बन सकनेसे 'जीव' पदके द्वारा अजीवत्वका भी प्रति-पादन होता है, और इस लिये 'जीव' पदके प्रयोगमें कोई विशेषता न रहनेसे वह अनुक्ततुल्य होजाता है। और इस तरह 'अस्ति' पदके द्वारा

नास्तित्वका भी और 'नास्ति' पदके द्वारा अस्तित्वका भी प्रतिपादन होनेसे तथा 'जीव' पदके द्वारा अजीव अर्थका भी और 'अजीव' पदके द्वारा जीव अर्थ-का भी प्रतिपादन होनेसे अस्ति-नास्ति पदोंमें तथा जीव-अजीव पदोंमें घट-कुट (कुम्भ) शब्दोंकी तरह परस्पर पर्यायभाव ठहरता है। पर्यायभाव होनेपर परस्पर प्रतियोगी पदोंमें भी सभी मानवोंके द्वारा, घट-कुट शब्दों-की तरह, चाहे जिसका प्रयोग किया जा सकता है। और चाहे जिसका प्रयोग होनेपर संपूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात अन्य से (प्रतियोगीसे) च्युत (रहित) होजाता है—अर्थात् अस्तित्व नास्तित्वमे सर्वथा रहित होजाता है और इससे सत्ताऽद्वैतका प्रसङ्ग आता है। नास्तित्वका सर्वथा अभाव होनेपर सत्ताऽद्वैत आत्महीन ठहरता है; क्योंकि पररूपके त्यागके अभावमें स्वरूप-ग्रहणकी उपपत्ति नहीं बन सकती—घटमें अघटरूपके त्याग विना अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा नहीं बन सकती। इसी तरह नास्तित्वके सर्वथा अस्तित्वरहित होनेपर शून्यवादका प्रसङ्ग आता है और अभाव भावके विना बन नहीं सकता, इससे शून्य भी आत्महीन ही होजाता है। शून्यका स्वरूपसे भी अभाव होनेपर उसके पररूपका त्याग असंभव है—जैसे पटके स्वरूप-ग्रहणके अभावमें शाश्वत अपटरूपके त्यागका असंभव है। क्योंकि वस्तुका वस्तुत्व स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागकी व्यवस्थापर ही निर्भर है। वस्तु ही पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा अवस्तु होजाती है[1]। सकल स्वरूपसे शून्य जुदी कोई अवस्तु संभव ही नहीं है। अतः कोई भी वस्तु जो अपनी प्रतिपक्षभूत अवस्तुसे वर्जित है वह अपने आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं होती।

विरोधि चाऽभेद्यविशेष-भावात्-
तद्द्योतनः स्याद्गुणतो निपातः।
विपाद्य-सन्धिश्च तथाऽङ्गभावा-
दवाच्यता श्रायस-लोप-हेतुः ॥४३॥

---

१ "वस्त्वेवाऽवस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्।"—देवागम ४८

'यदि (सत्ताद्वैतवादियों अथवा सर्वथा शून्यवादियोंकी मान्यतानुसार सर्वथा अभेदका अवलम्बन लेकर) यह कहा जाय कि पद—अस्ति या नास्ति—(अपने प्रतियोगी पदके साथ सर्वथा) **अभेदी है**—और इसलिये एक पदका अभिधेय अपने प्रतियोगी पदके अभिधेयसे च्युत न होनेके कारण वह आत्महीन नहीं है—तो **यह कथन विरोधी है अथवा इससे उस पदका अभिधेय आत्महीन ही नहीं, किन्तु विरोधी भी होजाता है; क्योंकि किसी भी विशेषका**—भेदका—तब अस्तित्व बनता ही नहीं।'

व्याख्या—उदाहरणके तौरपर, जो सत्ताऽद्वैत (भावैकान्त) वादी यह कहता है कि 'अस्ति' पदका अभिधेय अस्तित्व 'नास्ति' पदके अभिधेय नास्तित्वसे सर्वथा अभेदी (अभिन्न) है उसके मतमें पदों तथा अभिधेयोंका परस्पर विरोध भेदका कर्ता है; क्योंकि सत्ताऽद्वैत मतमें सम्पूर्ण विशेषों-भेदोंका अभाव होनेसे अभिधान और अभिधेयका विरोध है—दोनों घटित नहीं होसकते, दोनोंका स्वीकार करनेपर अद्वैतता नष्ट होती है और उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'अनादि-अविद्याके वशसे भेदका सद्भाव है इससे दोष नहीं' तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विद्या-अविद्या भेद भी तब बनते नहीं। उन्हें यदि माना जायगा तो द्वैतताका प्रसङ्ग आएगा और उससे सत्ताऽद्वैत सिद्धान्तकी हानि होगी—वह नहीं बन सकेगा। अथवा अस्तित्वसे नास्तित्व अभेदी है यह कथन केवल आत्महीन ही नहीं किन्तु विरोधी भी है (ऐसा 'च' शब्दके प्रयोगसे जाना जाता है); क्योंकि जब भेदका सर्वथा अभाव है तब अस्तित्व और नास्तित्व भेदोंका भी अभाव है। जो मनुष्य कहता है कि 'यह इससे अभेदी है' उसने उन दोनोंका कथंचित् भेद मान लिया, अन्यथा वह वचन बन नहीं सकता; क्योंकि कथंचित् (किसी प्रकारसे) भी भेदीके न होनेपर भेदीका प्रतिषेध—अभेदी कहना—विरुद्ध पड़ता है—कोई भेदी ही नहीं तो अभेदी (न भेदी) का व्यवहार भी कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता।

यदि यह कहा जाय कि शब्दभेद तथा विकल्पभेदके कारण भेदी होने-

वालोंका जो प्रतिषेध है वह उनके स्वरूपभेदका प्रतिषेध है तब भी शब्दों और विकल्पोंके भेदको स्वयं न चाहते हुए भी संज्ञीके भेदको कैसे दूर किया जायगा, जिससे द्वैतापत्ति होती है ? क्योंकि संज्ञीका प्रतिषेध प्रतिषेध्य–संज्ञीके अस्तित्व विना बन नहीं सकता। इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि 'दूसरे मानते हैं इसीसे शब्द और विकल्पके भेदको इष्ट किया गया है, इसमें कोई दोष नहीं,' तो यह कथन भी नहीं बनता; क्योंकि अद्वैतावस्थामें स्व-परका (अपने और परायेका) भेद ही जब इष्ट नहीं तब दूसरे मानते हैं यह हेतु भी सिद्ध नहीं होता, और असिद्ध-हेतु-द्वारा साध्यकी सिद्धि बन नहीं सकती। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'विचारसे पूर्व तो स्व-परका भेद प्रसिद्ध ही है' तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि अद्वैतावस्थामें पूर्वकाल और अपरकालका भेद भी सिद्ध नहीं होता। अतः सत्ताद्वैतकी मान्यतानुसार सर्वथा भेदका अभाव माननेपर 'अभेदी' वचन विरोधी ठहरता है, यह सिद्ध हुआ। इसी तरह सर्वथा शून्यवादियोंका नास्तित्वसे अस्तित्वको सर्वथा अभेदी बतलाना भी विरोधदोषसे दूषित है, ऐसा जानना चाहिये।'

(अब प्रश्न यह पैदा होता है कि अस्तित्वका विरोधी होनेसे नास्तित्व धर्म वस्तुमें स्याद्वादियों-द्वारा कैसे विहित किया जाता है ? क्योंकि 'अस्ति' पदके साथ 'एव' लगानेसे तो 'नास्तित्व' का व्यवच्छेद (अभाव) होजाता है और 'एवके' साथमें न लगानेसे उसका कहना ही अशक्य ठहरता है—वह पद तब अनुक्ततुल्य होता है। इससे तो दूसरा कोई प्रकार न बन सकनेसे अवाच्यता–अवक्तव्यता ही फलित होती है। तब क्या वही युक्त है ? इस सब शङ्काका समाधान इस प्रकार है—)

'उस विरोधी धर्मका द्योतक 'स्यात्' नामका निपात (शब्द) है— जो (स्याद्वादियोंके द्वारा संप्रयुक्त किया जाता है और) **गौणरूपसे उस धर्मका द्योतन करता है**—इसीसे दोनों विरोधी–अविरोधी (नास्तित्व–अस्तित्व-जैसे) धर्मोंका प्रकाशन–प्रतिपादन होते हुए भी जो विधिका अर्थी

है उसकी प्रतिषेधमें प्रवृत्ति नहीं होती। साथ ही, वह 'स्यात्' पद विपक्षभूत धर्मकी सन्धि-संयोजनास्वरूप होता है—उसके रहते दोनों धर्मोंमें विरोध नहीं रहता; क्योंकि दोनोंमें अङ्गपना है और स्यात्पद उन दोनों अङ्गोंको जोड़ने वाला है।'

'सर्वथा अवक्तव्यता (युक्त नहीं है; क्योंकि वह) श्रायस-मोक्ष अथवा आत्महितके लोपकी कारण है—क्योंकि उपेय और उपायके वचन-विना उनका उपदेश नहीं बनता, उपदेशके विना श्रायसके उपाय का—मोक्षमार्गका—अनुष्ठान नहीं बन सकता और उपाय (मार्ग) का अनुष्ठान न बन सकनेपर उपेयरूप श्रायस (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती। इस तरह अवक्तव्यता श्रायसके लोपकी हेतु ठहरती है। अतः स्यात्कार-लांछित एवकारसे युक्त पद ही अर्थवान् है ऐसा प्रतिपादन करना चाहिए, यही तात्पर्यात्मक अर्थ है।'

(इसतरह तो 'स्यात्' शब्दके सर्वत्र प्रयोगका प्रसङ्ग आता है, तब उसका पद-पदके प्रति अप्रयोग शास्त्रमें और लोकमें किस कारणसे प्रतीत होता है? इस शङ्काका समाधान इस प्रकार है—)

तथा प्रतिज्ञाऽऽशयतोऽप्रयोगः
सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्तिः।
इति त्वदीया जिननाग! दृष्टिः
पराऽप्रधृष्या परधर्षिणी च ॥४४॥

'(शास्त्रमें और लोकमें 'स्यात्' निपातका) जो अप्रयोग है—हरएक पदके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग नहीं पाया जाता—उसका कारण उस प्रकारका—स्याद्वादात्मक-प्रयोग-प्रकारका—प्रतिज्ञाशय है—प्रतिज्ञामें प्रतिपादन करनेवालेका अभिप्राय सन्निहित है।—जैसे शास्त्रमें 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादि वाक्योंमें कहींपर भी 'स्यात्' या 'एव'

शब्दका प्रयोग नहीं है परन्तु शास्त्रकारोंके द्वारा अप्रयुक्त होते हुए भी वह जाना जाता है; क्योंकि उनके वैसे प्रतिज्ञाशयका सद्भाव है। **अथवा (स्याद्वादियोंके) प्रतिषेधकी**—सर्वथा एकान्तके व्यवच्छेदकी—**युक्ति सामर्थ्यसे ही घटित होजाती है**—क्योंकि 'स्यात्' पदका आश्रय लिये विना कोई भी स्याद्वादी नहीं बनता और न स्यात्कारके प्रयोग विना अनेकान्तकी सिद्धि ही घटित होती है; जैसे कि एवकारके प्रयोग विना सम्यक् एकान्तकी सिद्धि नहीं होती। अतः स्याद्वादी होना ही इस बातको सूचित करता है कि उसका आशय प्रतिपदके साथ 'स्यात्' शब्दके प्रयोगका है, भले ही उसके द्वारा प्रयुक्त हुए प्रतिपदके साथमें 'स्यात्' शब्द लगा हुआ न हो, यही उसके पद-प्रयोगकी सामर्थ्य है।'

(इसके सिवाय, "सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्" इस प्रकारके वाक्यमें 'स्यात्' पदका अप्रयोग है, ऐसा नहीं समझना चाहिये; क्योंकि 'स्वरूपादि चतुष्टयात्' इस वचनसे स्यात्कारके अर्थकी उसी प्रकार प्रतिपत्ति होती है जिस प्रकार कि 'कथञ्चित्ते सदेवेष्ट' इस वाक्यमें 'कथञ्चित्' वचनसे स्यात्पदका प्रयोग जाना जाता है। इसी प्रकार लोकमें 'घटं आनय' (घड़ा लाओ) इत्यादि वाक्यों में जो 'स्यात' शब्दका अप्रयोग है वह उसी प्रतिज्ञाशयको लेकर सिद्ध है।)

'इस तरह हे <u>जिन-नाग</u> !—जिनोंमें श्रेष्ठ श्रीवीर भगवन् ! आपकी (<u>नागदृष्टिसम अनेकान्त</u>) दृष्टि दूसरोंके—सर्वथा एकान्तवादियोंके द्वारा अप्रधृष्य है—अबाधितविषया है—और साथ ही परधर्षिणी भी है—दूसरे भावैकान्तादि-वादियोंकी दृष्टिकी धर्षणा (तिरस्कृति) करनेवाली है—उनके सर्वथा एकान्तरूपसे मान्य सिद्धान्तोंको बाधा पहुँचानेवाली है।'

विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च
त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी
स्याच्छब्द-नेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥४५॥

'विधि, निषेध और अनभिलाप्यता—स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव—ये एक-एक करके (पदके) तीन मूल विकल्प हैं। इनके विपक्षभूत धर्मकी संधि-संयोजनारूपसे द्विसंयोगज विकल्प तीन—स्यादस्ति-नास्त्येव, स्यादस्त्यवक्तव्यमेव, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव—होते हैं और त्रिसंयोगज विकल्प एक—स्यादस्ति-नास्त्यवक्तव्यमेव—ही होता है। इस तरहसे ये सात विकल्प हे वीर जिन! सम्पूर्ण अर्थभेदमें—अशेष जीवादितत्त्वार्थ-पर्यायोंमें, न कि किसी एक पर्याय-में—आपके यहाँ (आपके शासनमें) घटित होते हैं, दूसरोंके यहाँ नहीं—क्योंकि "प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गी" यह आपके शासनका वचन है, दूसरे सर्वथा एकान्तवादियोंके शासनमें वह बनता ही नहीं। और ये सब विकल्प 'स्यात्' शब्दके द्वारा नेय हैं—नेतृत्वको प्राप्त हैं—अर्थात् एक विकल्पके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग होनेसे शेष छहों विकल्प उसके द्वारा गृहीत होते हैं, उनके पुनः प्रयोगकी जरूरत नहीं रहती; क्योंकि स्यात्पदके साथमें रहनेसे उनके अर्थविषयमें विवादका अभाव होता है। जहाँ कहीं विवाद हो वहाँ उनके क्रमशः प्रयोगमें भी कोई दोष नहीं है; क्योंकि एक प्रतिपाद्यके भी सप्त प्रकारकी विप्रतिपत्तियोंका सद्भाव होता है—उतने ही संशय उत्पन्न होते हैं, उतनी ही जिज्ञासाओंकी उत्पत्ति होती है और उतने ही प्रश्नवचनों (सवालों) की प्रवृत्ति होती है। और 'प्रश्नके वशसे एक वस्तुमें अविरोधरूपसे विधि-निषेधकी जो कल्पना है उसीका नाम सप्तभङ्गी है'। अतः नाना प्रतिपाद्यजनोंकी तरह एक प्रतिपा-द्यजनके लिये भी प्रतिपादन करनेवालोंका सप्त-विकल्पात्मक वचन विरुद्ध नहीं ठहरता है।'

स्यादित्यपि स्याद्गुण-मुख्य-कल्पै-
कान्तो यथोपाधि-विशेष-वीक्ष्यः।
तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं
द्विधा भवार्थ-व्यवहारवत्त्वात् ॥४६॥

'स्यात्' (शब्द) भी गुण और मुख्य स्वभावोंके द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तोंको लिये हुए होता है—नयोंके आदेशसे। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतासे अस्तित्व-एकान्त मुख्य है, शेष नास्तित्वादि-एकान्त गौण हैं; क्योंकि प्रधानभावसे वे विवक्षित नहीं होते और न उनका निराकरण ही किया जाता है। इसके सिवाय, ऐसा अस्तित्व गधेके सींगकी तरह असम्भव है जो नास्तित्वादि धर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखता। 'स्यात्' शब्द प्रधान तथा गौणरूपसे ही उनका द्योतन करता है—जिस पद अथवा धर्मके साथ वह प्रयुक्त होता है उसे प्रधान और शेष पदान्तरों अथवा धर्मोंको गौण बतलाता है, यह उसकी शक्ति है। व्यवहारनयके आदेश (प्राधान्य) से नास्तित्वादि-एकान्त मुख्य हैं और अस्तित्व-एकान्त गौण है; क्योंकि प्रधानरूपसे वह तब विवक्षित नहीं होता और न उसका निराकरण ही किया जाता है, अस्तित्वका सर्वथा निराकरण करनेपर नास्तित्वादि धर्म बनते भी नहीं; जैसे कछुवेके रोम। नास्तित्वादि धर्मोंके द्वारा अपेक्षमान जो वस्तुका अस्तित्व धर्म है वह 'स्यात्' शब्दके द्वारा द्योतन किया जाता है। इस तरह 'स्यात्' नामका निपात प्रधान और गौणरूपसे जो कल्पना करता है वह शुद्ध (सापेक्ष) नयके आदेशरूप सम्यक् एकान्तसे करता है, अन्यथा नहीं—क्योंकि वह यथोपाधि—विशेषणानुसार—विशेषका—धर्म-भेद अथवा धर्मान्तरका—द्योतक होता है, जिसका वस्तुमें सद्भाव पाया जाता है।'

(यहाँपर किसीको यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि जीवादि तत्त्व भी तब प्रधान-गौणरूप एकान्तको प्राप्त होजाता है; क्योंकि) तत्त्व तो अनेकान्त है—अनेकान्तात्मक है—और वह अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है, एकान्तरूप नहीं; एकान्त तो उसे नयकी अपेक्षासे कहा जाता है, प्रमाणकी अपेक्षासे नहीं; क्योंकि प्रमाण सकलरूप होता है—विकलरूप नहीं, विकलरूप तत्त्वका एकदेश कहलाता है जो कि नयका विषय है और

इसीसे सकलरूप तत्त्व प्रमाणका विषय है। कहा भी है--'सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशो नयाधीनः।'

'और वह तत्त्व दो प्रकारसे व्यवस्थित है—एक भवार्थवान् होनेसे द्रव्यरूप, जिसे सद्द्रव्य तथा विधि भी कहते हैं, और दूसरा व्यवहारवान् होनेसे पर्यायरूप, जिसे असद्द्रव्य, गुण तथा प्रतिषेध भी कहते हैं। इनसे भिन्न उसका दूसरा कोई प्रकार नहीं है, जो कुछ है वह सब इन्हीं दो भेदोंके अन्तर्भूत है।'

न द्रव्य-पर्याय-पृथग्-व्यवस्था
द्वैयात्म्यमेकाऽर्पणया विरुद्धम्।
धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ
न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ॥४७॥

सर्वथा द्रव्यकी ('द्रव्यमेव' इस द्रव्यमात्रात्मक एकान्तकी) **कोई व्यवस्था नहीं बनती**—क्योंकि सम्पूर्ण पर्यायोंसे रहित द्रव्यमात्रतत्त्व प्रमाणका विषय नहीं है—प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे वह सिद्ध नहीं होता अथवा जाना नहीं जासकता; **न सर्वथा पर्यायकी** ('पर्याय' एव—एक मात्र पर्याय ही—इस एकान्त सिद्धान्तकी) **कोई व्यवस्था बनती है**—क्योंकि द्रव्य एकान्तकी तरह द्रव्यसे रहित पर्यायमात्र तत्त्व भी किसी प्रमाणका विषय नहीं है; **और न सर्वथा पृथग्भूत**—परस्परनिरपेक्ष—**द्रव्य-पर्याय (दोनों) की ही कोई व्यवस्था बनती है**— क्योंकि उसमें भी प्रमाणाभाव की दृष्टिसे कोई विशेष नहीं है, वह भी सकल प्रमाणोंके अगोचर है।'

'(द्रव्यमात्रकी, पर्यायमात्रकी तथा पृथग्भूतद्रव्य-पर्यायमात्रकी व्यवस्था न बन सकनेसे) **यदि सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाय तो यह सर्वथा द्वैयात्म्य एककी अर्पणाके साथ विरुद्ध पड़ता है**—सर्वथा एकत्वके साथ द्वयात्मकता बनती ही नहीं—क्योंकि जो द्रव्यकी प्रतीतिका

हेतु है और जो पर्यायकी प्रतीतिका निमित्त है वे दोनों यदि परस्परमें भिन्ना-त्मा हैं तो कैसे तदात्मक एक तत्त्व व्यवस्थित होता है ? नहीं होता; क्योंकि अभिन्नका भिन्नात्माओंके साथ एकत्वका विरोध है। जब वे दोनों आत्माएँ एकसे अभिन्न हैं तब भी एक ही अवस्थित होता है; क्योंकि सर्वथा एकसे अभिन्न उन दोनोंके एकत्वकी सिद्धि होती है, न कि द्वैधात्म्य (द्वयात्मकता) की, जो कि एकत्वके विरुद्ध है। कौन ऐसा अमूढ़ (समझदार) है जो प्रमाणको अङ्गीकार करता हुआ सर्वथा एक वस्तुके दो भिन्न आत्माओंकी अर्पणा--विवक्षा करे ?--मूढ़के सिवाय दूसरा कोई भी नहीं कर सकता। अतः द्वयात्मक तत्त्व सर्वथा एकार्पणाके--एक तत्त्वकी मान्यताके--साथ विरुद्ध ही है, ऐसा मानना चाहिये।'

'(किन्तु हे वीर जिन !) आपके मतमें—स्याद्वादशासनमें--ये धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों असर्वथारूपसे तीन प्रकार—भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाऽभिन्न--माने गये हैं और (इसलिये) सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं।—क्योंकि सर्वथारूपसे तीन प्रकार माने जानेपर भी ये प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध ठहरते हैं और विरुद्धरूपमें आपको अभिमत नहीं हैं। अतः स्यात्पदात्मक वाक्य न तो धर्ममात्रका प्रतिपादन करता है, न धर्मीमात्रका, न धर्म-धर्मी दोनोंको सर्वथा अभिन्न प्रतिपादन करता है, न सर्वथा भिन्न और न सर्वथा भिन्नाऽभिन्न। क्योंकि ये सब प्रतीतिके विरुद्ध हैं। और इससे द्रव्य-एकान्तकी, पर्याय-एकान्तकी तथा परस्परनिरपेक्ष पृथग्भूत द्रव्य-पर्याय-एकान्तकी व्यवस्थाके न बन सकनेका समर्थन होता है। द्रव्यादिके सर्वथा एकान्तमें युक्त्यनुशासन घटित नहीं होता।'

दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ-
प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।
प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्ययात्म-
तत्त्व-व्यवस्थं सदिहाऽर्थरूपम् ॥४८॥

'प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप—अबाधित-विषयस्वरूप—अर्थका जो अर्थसे प्ररूपण है—अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण साधनरूप अर्थसे साध्यरूप अर्थका प्रतिपादन है—उसे युक्त्यनुशासन—युक्ति-वचन—कहते हैं और वही (हे वीर भगवान्!) आपको अभि-मत है।'

'(यहाँ आपके ही मतानुसार युक्त्यनुशासनका एक उदाहरण दिया जाता है और वह यह है कि) अर्थका रूप प्रतिक्षण (प्रत्येक समय में) स्थिति (ध्रौव्य) उदय (उत्पाद) और व्यय (नाश) रूप तत्त्व-व्यवस्थाको लिये हुए हैं; क्योंकि वह सत् है।'

(इस युक्त्यनुशासन में जो पक्ष है वह प्रत्यक्षके विरुद्ध नहीं है; क्यों-कि अर्थका ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूप जिस प्रकार बाह्य घटादिक पदार्थोंमें अनुभव किया जाता है उसी तरह आत्मादि आभ्यन्तर पदार्थोंमें भी उसका साक्षात् अनुभव होता है। उत्पादमात्र तथा व्ययमात्रकी तरह स्थितिमात्रका—सर्वथा ध्रौव्यका—सर्वत्र अथवा कहीं भी साक्षात्कार नहीं होता। और अर्थके इस ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूपका अनुभव, बाधक प्रमाणका अभाव सुनिश्चित होनेसे, अनुपपन्न नहीं है—उपपन्न है; क्योंकि कालान्तरमें ध्रौव्योत्पादव्ययका दर्शन होनेसे उसकी प्रतीति सिद्ध होती है; अन्यथा खर-विषाणादिकी तरह एक बार भी उसका योग नहीं बनता। अतः प्रत्यक्ष-विरोध नहीं है। आगम-विरोध भी इस युक्त्यनुशासनके साथ घटित नहीं हो सकता; क्योंकि 'उत्पादव्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' यह परमागमवचन प्रसिद्ध है—सर्वथा एकान्तरूप आगम दृष्ट (प्रत्यक्ष) तथा इष्ट (अनुमान) के विरुद्ध अर्थका अभिधायी होनेसे ठग-पुरुषके वचनकी तरह प्रसिद्ध अथवा प्रमाण नहीं है। और इसलिये पक्ष निर्दोष है। इसी तरह सत्‌रूप साधन भी असिद्धादि दोषोंसे रहित है। अतः 'अर्थका रूप प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक है सत् होनेसे,' यह युक्त्यनुशासनका उदाहरण समीचीन है।)

(इस तरह तो यह फलित हुआ कि एक ही वस्तु नाना-स्वभावको प्राप्त है जो कि विरुद्ध है। तब उसकी सिद्धि कैसे होती है ? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—)

नानात्मतामप्रजहत्तदेक-
मेकात्मतामप्रजहच्च नाना ।
अङ्गाङ्गि-भावात्तव वस्तु तद्यत्
क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥४६॥

'(हे वीर जिन !) आपके शासनमें जो (जीवादि) वस्तु एक है (सत्वरूप एकत्व-प्रत्यभिज्ञानका विषय होनेसे) वह (समीचीन नाना ज्ञानका विषय होनेसे) नानात्मता (अनेकरूपता) का त्याग न करती हुई ही वस्तुतत्त्वको प्राप्त होती है—जो नानात्मताका त्याग करती है वह वस्तु ही नहीं; जैसे दूसरोंके द्वारा परिकल्पित ब्रह्माद्वैत आदि। (इसी तरह) जो वस्तु (अबाधित नानाज्ञानका विषय होनेसे) नानात्मक प्रसिद्ध है वह एकात्मताको न छोड़ती हुई ही आपके मतमें वस्तुत्वरूपसे अभिमत है—अन्यथा उसके वस्तुत्व नहीं बनता; जैसे कि दूसरोंके द्वारा अभिमत निरन्वय नानाक्षणरूप वस्तु। अतः जीवादिपदार्थ-समूह परस्पर एक-दूसरेका त्याग न करनेसे एक-अनेक-स्वभावरूप है; क्योंकि वस्तुत्वकी अन्यथा उपपत्ति बनती ही नहीं' यह युक्त्यनुशासन है।

'(इस प्रकारकी वस्तु वचनके द्वारा कैसे कही जा सकती है ? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि) वस्तु जो अनन्तरूप है वह अङ्ग-अङ्गीभावके कारण—गुण-मुख्यकी विवक्षाको लेकर—क्रमसे वचन-गोचर है—युगपत् नहीं, युगपत् (एक साथ) एक रूपसे और अनेक-रूपसे वस्तु वचनके द्वारा कही ही नहीं जाती; क्योंकि वैसी वाणीका असंभव है—वचनमें वैसी शक्ति ही नहीं है। और इस तरह क्रमसे प्रवर्तमान वचन वस्तुरूप—सत्य—होता है उसके असत्यत्वका प्रसङ्ग नहीं

जाता; क्योंकि उसकी अपने नानात्व और एकत्वविषयमें अङ्ग-अङ्गीभावसे प्रवृत्ति होती है। जैसे 'स्यादेकमेव वस्तु' इस वचनके द्वारा प्रधानभावसे एकत्व वाच्य है और गौणरूपसे अनेकत्व; 'स्यादनेकमेव वस्तु' इस वचनके द्वारा प्रधानभावसे अनेकत्व और गौणरूपसे एकत्व वाच्य है। इस तरह एकत्व और अनेकत्वके वचनके कैसे असत्यता होसकती है? नहीं होसकती है। प्रत्युत इसके, सर्वथा एकत्वके वचन-द्वारा अनेकत्वका निराकरण होता है और अनेकत्वका निराकरण होनेपर उसके अविनाभावी एकत्वके भी निराकरणका प्रसङ्ग उपस्थित होनेसे असत्यत्वकी परिप्राप्ति अभीष्ट ठहरती है; क्योंकि वैसी उपलब्धि नहीं है। और सर्वथा अनेकत्वके वचनद्वारा एकत्वका निराकरण होता है और एकत्वका निराकरण होनेपर उसके अविनाभावी अनेकत्वके भी निराकरणका प्रसंग उपस्थित होनेसे सत्यत्वका विरोध होता है। और इसलिये अनन्त धर्मरूप जो वस्तु है उसे अंग-अंगी (अप्रधान-प्रधान) भावके कारण क्रमसे वाग्वाच्य (वचनगोचर) समझना चाहिये।'

मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थ-हेतु-
र्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थ-हेतु-
र्दृष्टा नयास्तद्वदसि-क्रियायाम् ॥५०॥

'(वस्तुको अनन्तधर्मविशिष्ट मानकर यदि यह कहा जाय कि वे धर्म परस्पर-निरपेक्ष ही हैं और धर्मी उनसे पृथक् ही है तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि) जो अंश—धर्म अथवा वस्तुके अवयव—परस्पर-निरपेक्ष हैं वे पुरुषार्थके हेतु नहीं हो सकते; क्योंकि उस रूपमें उपलभ्यमान नहीं हैं'—जो जिस रूपमें उपलभ्यमान नहीं वह उस रूपमें व्यवस्थित भी नहीं होता, जैसे अग्नि शीतताके साथ उपलभ्यमान नहीं है तो वह शीततारूपमें व्यवस्थित भी नहीं होती। परस्परनिरपेक्ष सत्वादिक धर्म

अथवा अवयव पुरुषार्थहेतुतारूपसे उपलभ्यमान नहीं हैं, अतः पुरुषार्थता-हेतुरूपमें व्यवस्थित नहीं होते। यह युक्त्यनुशासन प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध है।'

'जो अंश-धर्म परस्पर-सापेक्ष हैं वे पुरुषार्थके हेतु हैं; क्योंकि उस रूपमें देखे जाते हैं—जो जिस रूपमें देखे जाते हैं वे उसी रूपमें व्यवस्थित होते हैं, जैसे दहन (अग्नि) दहनताके रूपमें देखी जाती है और इसलिये तद्रूपमें व्यवस्थित होती है; परस्परसापेक्ष अंशः स्वभावतः पुरुषार्थ-हेतुतारूपसे देखे जाते हैं और इसलिये पुरुषार्थहेतुरूपसे व्यवस्थित हैं। यह स्वभावकी उपलब्धि है।'

'(इसी तरह) अंशी—धर्मी अथवा अवयवी—अंशोंसे—धर्मों अथवा अवयवोंसे—पृथक् नहीं है; क्योंकि उसरूपमें उपलभ्यमान नहीं है—जो जिस रूपमें उपलभ्यमान नहीं वह उसमें नास्तिरूप ही है, जैसे अग्नि शीततारूपसे उपलभ्यमान नहीं है अतः शीततारूपसे उसका अभाव है। अंशोंसे अंशीका पृथक् होना सर्वदा अनुपलभ्यमान है अतः अंशोंसे पृथक् अंशीका अभाव है। यह स्वभावकी अनुपलब्धि है। इसमें प्रत्यक्षतः कोई विरोध नहीं है, क्योंकि परस्पर विभिन्न पदार्थों सह्याचल–विन्ध्या-चलादि जैसोंके अंश-अंशीभावका दर्शन नहीं होता। आगम-विरोध भी इसमें नहीं है; क्योंकि परस्पर विभिन्न अर्थोंके अंश-अंशीभावका प्रति-पादन करनेवाले आगमका अभाव है, और जो आगम परस्पर विभिन्न पदार्थोंके अंश-अंशीभावका प्रतिपादक है वह युक्ति-विरुद्ध होनेसे आगमा-भास सिद्ध है।'

'अंश-अंशीकी तरह परस्परसापेक्ष नय—नैगमादिक—भी (सत्तालक्षणा) असिक्रियामें पुरुषार्थके हेतु हैं; क्योंकि उस रूप में देखे जाते हैं—उपलभ्यमान हैं।—इससे स्थितिग्राहक द्रव्यार्थिक-नयके भेद नैगम, संग्रह, व्यवहार और प्रतिक्षण उत्पाद-व्ययके ग्राहक पर्यायार्थिकनयके भेद ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत ये सब परस्परमें सापेक्ष होते हुए ही वस्तुका जो साध्य अर्थक्रिया-लक्षण-पुरुषार्थ है उसके

निर्णयके हेतु हैं—अन्यथा नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप जो अर्थका प्ररूपण सत्रूप है वह सब प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक है; अन्यथा सत्पना बनता ही नहीं। इस प्रकार युक्त्यनुशासनको उदाहृत जानना चाहिये।'

एकान्त-धर्माऽभिनिवेश-मूला
रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम्।
एकान्त-हानाच्च स यत्तदेव
स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥५१॥

'(जिन लोगोंका ऐसा ख्याल है कि जीवादिवस्तुका अनेकान्तात्मकरूपसे निश्चय होनेपर स्वात्माकी तरह परात्मामें भी राग होता है—दोनोंमें कथंचित् अभेदके कारण, तथा परात्माकी तरह स्वात्मामें भी द्वेष होता है—दोनोंमें कथंचित् भेदके कारण, और राग-द्वेषके कार्य ईर्ष्या, असूया, मद, मायादिक दोष प्रवृत्त होते हैं, जो कि संसारके कारण हैं, सकल विक्षोभके निमित्तभूत हैं तथा स्वर्गाऽपवर्गके प्रतिबन्धक हैं। और वे दोष प्रवृत्त होकर मनके समत्वका निराकरण करते हैं—उसे अपनी स्वाभाविक स्थितिमें स्थित न रहने देकर विषम-स्थितिमें पटक देते हैं—, मनके समत्वका निराकरण समाधिको रोकता है, जिससे समाधि-हेतुक निर्वाण किसीके नहीं बन सकता। और इसलिये जिनका यह कहना है कि 'मोक्षके कारण समाधिरूप मनके समत्वकी इच्छा रखनेवालेको चाहिये कि वह जीवादि वस्तुको अनेकान्तात्मक न माने' वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि)वे राग द्वेषादिक—जो मनकी समताका निराकरण करते हैं—एकान्तधर्माभिनिवेशमूलक होते हैं—एकान्त-रूपसे निश्चय किये हुए (नित्यत्वादि) धर्ममें अभिनिवेश—मिथ्याश्रद्धान[1] उनका मूलकारण होता है—और (मोही—मिथ्यादृष्टि)

---

१. चूँकि प्रमाणसे अनेकान्तात्मक वस्तुका ही निश्चय होता है और सम्यक् नयसे प्रतिपक्षकी अपेक्षा रखनेवाले एकान्तका व्यवस्थापन होता है अतः एकान्ताभिनिवेशका नाम मिथ्यादर्शन या मिथ्याश्रद्धान है, यह प्रायः निर्णीत है।

जीवोंकी अहंकृतिसे—अहंकार तथा उसके साथी ममकारसे[२]—वे उत्पन्न होते हैं। अर्थात् उन अहंकार-ममकार भावोंसे ही उनकी उत्पत्ति है जो मिथ्यादर्शनरूप मोह-राजाके सहकारी हैं—मन्त्री हैं[३], अन्यसे नहीं—दूसरे अहंकार-ममकारके भाव उन्हें जन्म देनेमें असमर्थ हैं। और (सम्यग्दृष्टि-जीवोंके) एकान्तकी हानि से—एकान्तधर्माभिनिवेशरूप मिथ्या-दर्शनके अभावसे—वह एकान्ताभिनिवेश उसी अनेकान्तके निश्चय-रूप सम्यग्दर्शनत्वको धारण करता है जो आत्माका वास्तविक रूप है; क्योंकि एकान्ताभिनिवेशका जो अभाव है वही उसके विरोधी अनेकान्तके निश्चयरूप सम्यग्दर्शनका सद्भाव है। और चूँकि यह एकान्ताभिनिवेशका अभावरूप सम्यग्दर्शन आत्माका स्वाभाविक रूप है अतः (हे वीर भगवान्!) आपके यहाँ—आपके युक्त्यनु-शासनमें—(सम्यग्दृष्टिके) मनका समत्व ठीक घटित होता है। वास्तवमें दर्शनमोहके उदयरूप मूलकारणके होते हुए चारित्रमोहके उदयमें जो रागादिक उत्पन्न होते हैं वे ही जीवोंके अस्वाभाविक परिणाम हैं; क्योंकि वे औदयिक भाव हैं। और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो परिणाम दर्शनमोहके नाश, चारित्रमोहकी उदयहानि और रागादिके अभावसे होते हैं वे आत्मरूप होनेसे जीवोंके स्वाभाविक परिणाम हैं—किन्तु पारिणा-मिक नहीं; क्योंकि पारिणामिक भाव कर्मोंके उपशमादिकी अपेक्षा नहीं रखते। ऐसी स्थितिमें असंयत सम्यग्दृष्टिके भी स्वानुरूप मनःसाम्यकी

२. 'मैं इसका स्वामी' ऐसा जो जीवका परिणाम है वह 'अहंकार' है और 'मेरा यह भोग्य' ऐसा जो जीवका परिणाम है वह 'ममकार' कहलाता है। अहंकारके साथ यहाँ सामर्थ्यसे ममकार भी प्रतिपादित है

३. कहा भी है—

"ममकाराऽहंकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य।
रागादि-सकलपरिकर-परिपोषण-तत्परौ सततम् ॥१॥"

—युक्त्यनुशासनटीकामें उद्धृत।

अपेक्षा मनका सम होना बनता है; क्योंकि उसके संयमका सर्वथा अभाव नहीं होता। अतः अनेकान्तरूप युक्त्यनुशासन रागादिकका निमित्तकारण नहीं, वह तो मनकी समताका निमित्तभूत है।

प्रमुच्यते च प्रतिपक्ष-दूषी
जिन ! त्वदीयैः पटुसिंहनादैः।
एकस्य नानात्मतया ज्ञ-वृत्ते-
स्तौ बन्ध-मोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ॥५२॥

'(यदि यह कहा जाय कि अनेकान्तवादीका भी अनेकान्तमें राग और सर्वथा एकान्तमें द्वेष होनेसे उसका मन सम कैसे रह सकता है, जिससे मोक्ष बन सके ? मोक्षके अभावमें बन्धकी कल्पना भी नहीं बनती। अथवा मनका सदा सम रहना माननेपर बन्ध नहीं बनता और बन्धके अभावमें मोक्ष घटित नहीं हो सकता, जो कि बन्धपूर्वक होता है। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों ही अनेकान्तवादीके स्वमतसे बाह्य ठहरते हैं—मनकी समता और असमता दोनों ही स्थितियोंमें उनकी उपपत्ति नहीं बन सकती—तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **जो प्रतिपक्षदूषी है**—प्रतिद्वन्द्वीका सर्वथा निराकरण करनेवाला एकान्ताग्रही है—**वह तो हे वीर जिन ! आप (अनेकान्तवादी) के एकाऽनेकरूपता जैसे पटुसिंहनादोंसे**—निश्चयात्मक एवं सिंहगर्जनाकी तरह अबाध्य ऐसे युक्ति-शास्त्राविरोधी आगमवाक्योंके प्रयोगद्वारा—**प्रमुक्त ही किया जाता है**—वस्तुतत्त्वका विवेक कराकर अतत्त्वरूप एकान्ताग्रहसे उसे मुक्ति दिलाई जाती है—**क्योंकि प्रत्येक वस्तु नानात्मक है, उसका नानात्मकरूपसे निश्चय ही सर्वथा एकान्तका प्रमोचन है।** ऐसी दशामें अनेकान्तवादीका एकान्तवादीके साथ कोई द्वेष नहीं हो सकता, और चूँकि वह प्रतिपक्षका भी स्वीकार करनेवाला होता है इसलिये स्वपक्षमें उसका सर्वथा राग भी नहीं बन सकता। वास्तवमें तत्त्वका निश्चय ही राग नहीं होता।

यदि तत्त्वका निश्चय ही राग होवे तो क्षीणमोहीके भी रागका प्रसंग आएगा, जोकि असम्भव है; और न अतत्त्वके व्यवच्छेदको ही द्वेष प्रतिपादित किया जा सकता है, जिसके कारण अनेकान्तवादीका मन सम न रहे। अतः अनेकान्तवादीके मनकी समताके निमित्तसे होनेवाले मोक्षका निषेध कैसे किया जा सकता है ? और मनका समत्व सर्वत्र और सदाकाल नहीं बनता, जिससे राग-द्वेषके अभावसे बन्धके अभावका प्रसंग आवे; क्योंकि गुणस्थानोंकी अपेक्षासे किसी तरह, कहींपर और किसी समय कुछ पुण्यबन्धकी उपपत्ति पाई जाती है। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों अपने (अनेकान्त) मतसे—जोकि अनन्तात्मक तत्त्व विषयको लिये हुए है—बाह्य नहीं हैं—उसीमें वस्तुतः उनका सद्भाव है—क्योंकि बन्ध और मोक्ष दोनों ज्ञवृत्ति हैं—अनेकान्तवादियोंद्वारा स्वीकृत ज्ञाता आत्मामें ही उनकी प्रवृत्ति है। और इसलिये सांख्योंद्वारा स्वीकृत प्रधान (प्रकृति) के अनेकान्तात्मक होनेपर भी उसमें वे दोनों घटित नहीं हो सकते; क्योंकि प्रधान (प्रकृति) के अज्ञता होती है—वह ज्ञाता नहीं माना गया है।'

आत्मान्तराऽभाव-समानता न
वागास्पदं स्वाऽऽश्रय-भेद-हीना ।
भावस्य सामान्य-विशेषवत्त्वा-
दैक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म ॥५३॥

'(यदि यह कहा जाय कि एकके नानात्मक अर्थके प्रतिपादक शब्द पटुसिंहनाद प्रसिद्ध नहीं हैं; क्योंकि बौद्धोंके अन्याऽपोहरूप जो सामान्य है उसके वागास्पदता—वचनगोचरता—है, और वचनोंके वस्तु-विषयत्वका असम्भव है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) आत्मान्तरके अभावरूप—आत्मस्वभावसे भिन्न अन्य-अन्य स्वभावके अपोहरूप—जो समानता (सामान्य) अपने आश्रयरूप भेदोंसे हीन (रहित) है वह वागास्पद—वचनगोचर—नहीं होती; क्योंकि वस्तु सामान्य और विशेष दोनों धर्मोंको लिये हुए है।'

'(यदि यह कहा जाय कि पदार्थके सामान्य-विशेषवान् होने पर भी सामान्यके ही वागास्पदता यु है; क्योंकि विशेष उसीका आत्मा है, और इस तरह दोनोंकी एकरूपता मानी जाय, तो) **सामान्य और विशेष दोनोंकी एकरूपता स्वीकार करनेपर एकके निरात्म** (अभाव) **होनेपर दूसरा भी** (अविनाभावी होनेके कारण) **निरात्म** (अभाव-रूप) **हो जाता है**—और इस तरह किसीका भी अस्तित्व नहीं बन सकता, अतः दोनोंकी एकता नहीं मानी जानी चाहिए।'

अमेयमश्लिष्टममेयमेव
भेदेऽपि तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् ।
वृत्तिश्च कृत्स्नांश-विकल्पतो न
मानं च नाऽनन्त-समाश्रयस्य ॥५४॥

'(यदि यह कहा जाय कि आत्मान्तराभावरूप—अन्यापोहरूप—सामान्य वागास्पद नहीं है, क्योंकि वह अवस्तु है; बल्कि वह सर्वगत सामान्य ही वागास्पद है जो विशेषोंसे अश्लिष्ट है—किसी भी प्रकारके भेदको साथमें लिये हुए नहीं है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) **जो अमेय है**—नियत देश, काल और आकारकी दृष्टिसे जिसका कोई अन्दाजा नहीं लगाया जासकता—**और अश्लिष्ट है**—किसी भी प्रकारके विशेष (भेद) को साथमें लिये हुए नहीं है—**वह** (सर्वव्यापी, नित्य, निराकाररूप सत्त्वादि) **सामान्य अमेय-अप्रमेय ही है**—किसी भी प्रमाणसे जाना नहीं जासकता। **भेदके मानने पर भी**—सामान्यको स्वाश्रयभूत द्रव्यादिकोंके साथ भेदरूप स्वीकार करने पर भी—**सामान्य प्रमेय नहीं होता; क्योंकि उन द्रव्यादिकोंमें उसकी वृत्तिकी अप-वृत्ति (व्यावृत्ति) का सद्भाव है**—सामान्यकी वृत्ति उनमें मानी नहीं गई है, और जब तक सामान्यकी अपने आश्रयभूत द्रव्यादिकोंमें वृत्ति नहीं है तब तक दोनोंका संयोग कुण्डीमें बेरोंके समान ही होसकता है;

क्योंकि सामान्यके अद्रव्यपना है तथा संयोगका अनाश्रयपना है और संयोगके द्रव्याश्रयपना है। ऐसी हालतमें सामान्यकी द्रव्यादिकमें वृत्ति नहीं बन सकती।'

'यदि सामान्यको द्रव्यादिवस्तुके साथ वृत्ति मानी भी जाय तो वह वृत्ति भी न तो सामान्यको कृत्स्न (निरंश) **विकल्परूप मानकर बनती है और न अंशविकल्परूप।**—क्योंकि अंशकल्पना-से रहित कृत्स्न विकल्परूप सामान्यकी देश और कालसे भिन्न व्यक्तियोंमें युगपत्वृत्ति सिद्ध नहीं की जासकती। उससे अनेक सामान्योंकी मान्यताका प्रसंग आता है, जो उक्त सिद्धान्तमान्यताके साथ माने नहीं गये हैं; क्योंकि एक तथा अनंशरूप सामान्यका उन सबके साथ युगपत् योग नहीं बनता। यदि यह कहा जाय कि सामान्य भिन्न देश और कालके व्यक्तियोंके साथ युगपत् सम्बन्धवान् है, क्योंकि वह सर्वगत, नित्य और अमूर्त है, जैसे कि आकाश; तो यह अनुमान भी ठीक नहीं है। इससे एक तो साधन इष्टका विघातक हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार वह भिन्न देश-कालके व्यक्तियोंके साथ सम्बन्धिपनको सिद्ध करता है उसी प्रकार वह सामान्यके आकाशकी तरह सांशपनको भी सिद्ध करता है जोकि इष्ट नहीं है; क्योंकि सामान्यको निरंश माना गया है। दूसरे, सामान्यके निरंश होनेपर उसका युगपत् सर्वगत होना उसी प्रकार विरुद्ध पड़ता है जिस प्रकार कि एक परमाणुका युगपत् सर्वगत होना विरुद्ध है, और इससे उक्त हेतु (साधन) असिद्ध है तथा असिद्ध-हेतुके कारण कृत्स्नविकल्परूप (निरंश) सामा-न्यका सर्वगत होना प्रमाणसिद्ध नहीं ठहरता।'

'(यदि यह कहा जाय कि सत्तारूप महासामान्य तो पूरा सर्वगत सिद्ध ही है, क्योंकि वह सर्वत्र सत्प्रत्ययका हेतु है, तो यह ठीक नहीं है; कारण ?) जो **अनन्त व्यक्तियोंके समाश्रयरूप है उस एक** (सत्ता-महासामान्य) **के ग्राहक प्रमाणका अभाव है**—क्योंकि अनन्त सद्-व्यक्तियोंके ग्रहण बिना उसके विषयमें युगपत् सत् इस ज्ञानकी उत्पत्ति असर्वज्ञों (छद्मस्थों) के नहीं बन सकती, जिससे सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वकी

सिद्धि हो सके। सर्वत्र सत्प्रत्यय- हेतुत्वकी सिद्धि न होनेपर अनन्त समाश्रयी सामान्यका उक्त अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। और इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कृत्स्नविकल्पी सामान्यकी द्रव्यादिकोंमें वृत्ति सामान्यबहुत्वका प्रसङ्ग उपस्थित होनेके कारण नहीं बन सकती। यदि सामान्यकी अनन्त स्वाश्रयोंमें देशतः युगपत् वृत्ति मानी जाय तो वह भी इसीसे दूषित होजाता है; क्योंकि उसका ग्राहक भी कोई प्रमाण नहीं है। साथ ही सामान्यके सप्रदेशत्वका प्रसङ्ग आता है, जिसे अपने उस सिद्धान्तका विरोध होनेसे जिसमें सामान्यको निरंश माना गया है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। और इसलिये अमेयरूप एक सामान्य किसी भी प्रमाणसे सिद्ध न होने-के कारण अप्रमेय ही है—अप्रामाणिक है।'

> नाना-सदेकात्म-समाश्रयं चेद्-
> अन्यत्वमद्विष्ठमनात्मनोः क्व।
> विकल्प-शून्यत्वमवस्तुनश्चे तु
> तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥५५॥

'नाना सतों—सत्पदार्थोंका—विविध द्रव्य-गुण-कर्मोंका—एक आत्मा—एक स्वभावरूप व्यक्तित्व; जैसे सदात्मा, द्रव्यात्मा, गुणात्मा अथवा कर्मा-त्मा—ही जिसका समाश्रय है ऐसा सामान्य यदि (सामान्य-वादियोंके द्वारा) माना जाय और उसे ही प्रमाणका विषय बतलाया जाय—अर्थात् यह कहा जाय कि सत्तासामान्यका समाश्रय एक सदात्मा, द्रव्यत्व-सामान्यका समाश्रय एक द्रव्यात्मा, गुणत्वसामान्यका समाश्रय एक गुणात्मा अथवा कर्मत्व-सामान्यका समाश्रय एक कर्मात्मा जो अपनी क सद्व्यक्ति, द्रव्यव्यक्ति, गुणव्यक्ति अथवा कर्मव्यक्तिके प्रतिभासकालमें प्रमाणसे प्रतीत होता है वही उससे भिन्न द्वितीयादि व्यक्तियोंके प्रतिभास-कालमें भी अभि-व्यक्तताको प्राप्त होता है और जिससे उसके एक सत् अथवा एक द्रव्यादि-स्वभावकी प्रतीति होती है, इतने मात्र आश्रयरूप सामान्यके ग्रहणका निमित्त

मौजूद है अतः वह प्रमाण है, उसके अप्रमाणता नहीं है; क्योंकि अप्रमाणता अनन्तस्वभावके समाश्रयरूप सामान्यके घटित होती है—तो ऐसी मान्यतावाले सामान्यवादियोंसे यह प्रश्न होता है कि उनका वह सामान्य अपने व्यक्तियोंसे अन्य (भिन्न) है या अनन्य (अभिन्न) ? यदि वह एक स्वभावके आश्रयरूप सामान्य अपने व्यक्तियोंसे सर्वथा अन्य (भिन्न) है तो (उन व्यक्तियोंके प्रागभावकी तरह असदात्मकत्व, अद्रव्यत्व, अगुणत्व अथवा अकर्मत्वका प्रसंग आएगा और व्यक्तियोंके असदात्मकत्व, अद्रव्यत्व, अगुणत्व अथवा अकर्मत्व-रूप होनेपर सत्सामान्य, द्रव्यत्वसामान्य, गुणत्वसामान्य अथवा कर्मत्वसामान्य भी व्यक्तित्वविहीन होनेसे अभावमात्रकी तरह असत् ठहरेगा, और इस तरह-) व्यक्तियों तथा सामान्य दोनोंके ही अनात्मा-अस्तित्वविहीन-होनेपर वह अन्यत्वगुण किसमें रहेगा जिसे अद्विष्ठ—एकमें रहने वाला—माना गया है ? किसीमें भी उसका रहना नहीं बन सकता और इसलिए अपने व्यक्तियोंसे सर्वथा अन्यरूप सामान्य व्यवस्थित नहीं होता।'

(यदि वह सामान्य व्यक्तियोंसे सर्वथा अनन्य (अभिन्न) है तो वह अनन्यत्व भी व्यवस्थित नहीं होता; क्योंकि सामान्यके व्यक्तिमें प्रवेश कर जानेपर व्यक्ति ही रह जाती है—सामान्यकी कोई अलग सत्ता नहीं रहती और सामान्यके अभावमें उस व्यक्तिकी संभावना नहीं बनती इसलिए वह अनात्मा ठहरती है, व्यक्तिका अनात्मत्व (अनस्तित्व) होनेपर सामान्यके भी अनात्मत्वका प्रसंग आता है और इस तरह व्यक्ति तथा सामान्य दोनों ही अनात्मा (अस्तित्व-विहीन) ठहरते हैं; तब अनन्यत्व-गुणकी योजना किसमें की जाय, जिसे द्विष्ठ (दोनोंमें रहने वाला) माना गया है ? किसीमें भी उसकी योजना नहीं बन सकती। और इसके द्वारा सर्वथा अन्य-अनन्यरूप उभय-एकान्तका भी निरसन हो जाता है; क्योंकि उसकी मान्यतापर दोनों प्रकारके दोषोंका प्रसंग आता है।)

'यदि सामान्यको (वस्तुभूत न मान कर) अवस्तु (अन्याऽपोह-रूप) ही इष्ट किया जाय और उसे विकल्पोंसे शून्य माना जाय—

यह कहा जाय कि उसमें खरविषाणकी तरह अन्यत्व-अनन्यत्वादिके विकल्प ही नहीं बनते और इसलिए विकल्प उठाकर जो दोष दिये गये हैं उनके लिए अवकाश नहीं रहता—तो उस **अवस्तुरूप सामान्यके अमेय होनेपर प्रमाणकी प्रवृत्ति कहाँ होती है**? अमेय होनेसे वह सामान्य प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणका विषय नहीं रहता और इसलिए उसकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।'

(इस तरह दूसरोंके यहाँ प्रमाणाभावके कारण किसी भी सामान्यकी व्यवस्था नहीं बन सकती।)

व्यावृत्ति-हीनाऽन्वयतो न सिद्ध्येद्
विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम् ।
अतद्व्युदासाऽभिनिवेश-वादः
पराऽभ्युपेताऽर्थ-विरोध-वादः ॥५६॥

'यदि साध्यको—सत्तारूप परसामान्य अथवा द्रव्यत्वादिरूप अपर सामान्यको—व्यावृत्तिहीन अन्वयसे—असत्की अथवा अद्रव्यत्वादिकी व्यावृत्ति (जुदायगी) के विना केवल सत्तादिरूप अन्वय-हेतुसे—**सिद्ध माना जाय तो वह सिद्ध नहीं होता**—क्योंकि विपक्षकी व्यावृत्ति-के विना सत्-असत् अथवा द्रव्यत्व अद्रव्यत्वादिरूप साधनोंके संकरसे सिद्धिका प्रसंग आता है और यह कहना नहीं बन सकता कि जो सदादि-रूप अनुवृत्ति (अन्वय) है वही असदादिकी व्यावृत्ति है; क्योंकि अनु-वृत्ति (अन्वय) भाव-स्वभावरूप और व्यावृत्ति अभाव-स्वभावरूप है और दोनोंमें भेद माना गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सदादिके अन्वयपर असदादिककी व्यावृत्ति सामर्थ्यसे ही हो जाती है; क्योंकि तब यह कहना नहीं बनता कि 'व्यावृत्तिहीन अन्वयसे उस साध्यकी सिद्धि होती है'—सामर्थ्यसे असदादिककी व्यावृत्तिको सिद्ध माननेपर तो यही कहना होगा कि वह अन्वयरूप हेतु असदादिकी व्यावृत्तिसहित है, उसीसे सत्ता-

मान्यकी अथवा द्रव्यत्वादि-सामान्यकी सिद्धि होती है। और इसीलिए उस सामान्यके सामान्य-विशेषाख्यत्वकी व्यवस्थापना होती है।'

'यदि इसके विपरीत अन्वयहीन व्यावृत्तिसे साध्य जो सामान्य उसको सिद्ध माना जाय तो वह भी नहीं बनता—क्योंकि सर्वथा अन्वयरहित अतद्व्यावृत्ति-प्रत्ययसे अन्यापोहकी सिद्धि होनेपर भी उसकी विधिकी असिद्धि होनेसे—उस अर्थक्रियारूप साध्यकी सिद्धिके अभावसे—उसमें प्रवृत्तिका विरोध होता है—वह नहीं बनती। और यह कहना भी नहीं बनता कि दृश्य और विकल्प्य दोनोंके एकत्वाऽध्यवसायसे प्रवृत्तिके होनेपर साध्यकी सिद्धि होती है; क्योंकि दृश्य और विकल्प्यका एकत्वाध्यवसाय असम्भव है। दर्शन उस एकत्वका अध्यवसाय नहीं करता; क्योंकि विकल्प्य उसका विषय नहीं है। दर्शनकी पीठपर होनेवाला विकल्प भी उस एकत्वका अध्यवसाय नहीं करता; क्योंकि दृश्य विकल्पका विषय नहीं है और दोनोंको विषय करनेवाला कोई ज्ञानान्तर सम्भव नहीं है, जिससे उनका एकत्वाध्यवसाय हो सके और एकत्वाध्यवसायके कारण अन्वयहीन व्यावृत्तिमात्रसे अन्यापोहरूप सामान्यकी सिद्धि बन सके। इस तरह स्वलक्षणरूप साध्यकी सिद्धि नहीं बनती।'

'यदि यह कहा जाय कि अन्वय और व्यावृत्ति दोनोंसे हीन जो अद्वितयरूप हेतु है उससे सन्मात्रका प्रतिभासन होनेसे सत्ताद्वैतरूप सामान्यकी सिद्धि होती है, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वथा अद्वितयकी मान्यतापर साध्य-साधनकी भेदसिद्धि नहीं बनती और भेदकी सिद्धि न होनेपर साधनसे—साध्यकी सिद्धि नहीं बनती और साधनसे साध्यकी सिद्धिके न होनेपर अद्वितय-हेतु विरुद्ध पड़ता है।'

'यदि अद्वितयको संवित्तिमात्रके रूपमें मानकर असाधनव्यावृत्तिसे साधनको और असाध्यव्यावृत्तिसे साध्यको अतद्व्युदासाभिनिवेशवादके रूपमें आश्रित किया जाय तब भी (बौद्धोंके मत में) पराभ्युपेतार्थके विरोधवादका प्रसङ्ग आता है; अर्थात् बौद्धोंके

द्वारा संवेदनाद्वैतरूप जो अर्थ पराभ्युपगत है वह अतद्व्युदासाभिनिवेश-वादसे—अतद्व्यावृत्तिमात्र आग्रहवचनरूपसे—विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि किसी असाधन तथा असाध्यके अर्थाभावमें उनकी अव्यावृत्तिसे साध्य-साधन-व्यवहारकी उपपत्ति नहीं बनती और उनको अर्थ माननेपर प्रतिक्षेप-का योग्यपना न होनेसे द्वैतकी सिद्धि होती है। इस तरह बौद्धोंके पूर्वाभ्यु-पेत अर्थके विरोधवादका प्रसङ्ग आता है'

अनात्मनाऽनात्मगतेरयुक्ति-
र्वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्ष-सिद्धिः।
अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्ष-सिद्धिः
न च स्वयं साधन-रिक्त-सिद्धिः ॥५७॥

'(यदि बौद्धोंकी तरफसे यह कहा जाय कि वे साधनको अनात्मक मानते हैं, वास्तविक नहीं और साध्य भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह संवृत्तिके द्वारा कल्पिताकाररूप है, अतः पराभ्युपेतार्थके विरोधवादका प्रसङ्ग नहीं आता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; (क्योंकि) अनात्मा—निःस्वभाव संवृतिरूप तथा असाधनकी व्यावृत्तिमात्ररूप—साधनके द्वारा उसी प्रकारके अनात्मसाध्यकी जो गति-प्रतिपत्ति (जानकारी) है उसकी सर्वथा अयुक्ति-अयोजना है—वह बनती ही नहीं।'

यदि (संवेदनाद्वैतरूप) वस्तुमें अनात्मसाधनके द्वारा अनात्म-साध्यकी गतिकी अयुक्तिसे पक्षकी सिद्धि मानी जाय—अर्थात् संवेद-नाद्वैतवादियोंके द्वारा यह कहा जाय कि साध्य-साधनभावसे शून्य संवेदन-मात्रके पक्षपनेसे ही हमारे यहाँ तत्त्वसिद्धि है, तो (विकल्पिताकार) अव-स्तुमें साधन-साध्यकी अयुक्तिसे प्रतिपक्षकी—द्वैतकी—भी सिद्धि ठहरती है। अवस्तुरूप साधन अद्वैततत्त्वरूप साध्यको सिद्ध नहीं करता है; क्योंकि ऐसा होनेसे अतिप्रसंग आता है—विपक्षकी भी सिद्धि ठहरती है।'

'और यदि साधनके बिना स्वतः ही संवेदनाद्वैतरूप साध्यकी सिद्धि मानी जाय तो वह युक्त नहीं है—क्योंकि तब पुरुषाद्वैतकी भी स्वयं सिद्धिका प्रसंग आता है, उसमें किसी भी बौद्धको विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।'

निशायितस्तैः परशुः परघ्नः
स्वमूर्ध्नि निर्भेद-भयाऽनभिज्ञैः।
वैतण्डिकैर्यैः कुसृतिः प्रणीता
मुने! भवच्छासन-दृक्-प्रमूढैः ॥५८॥

(इस तरह) हे वीर भगवन्! जिन वैतण्डिकोंने—परपक्षके दूषणकी प्रधानता अथवा एकमात्र धुनको लिए हुए संवेदनाद्वैतवादियोंने—कुसृतिका—कुत्सिता गति-प्रतीतिका—प्रणयन किया है उन आपके (स्याद्वाद) शासनकी दृष्टिसे प्रमूढ एवं निर्भेदके भयसे अनभिज्ञ जनोंने (दर्शनमोहके उदयसे आक्रान्त होनेके कारण) परघातक परशु-कुल्हाड़ेको अपने ही मस्तकपर मारा है!! अर्थात् जिस प्रकार दूसरेके घातके लिये उठाया हुआ कुल्हाड़ा यदि अपने ही मस्तकपर पड़ता है तो अपने मस्तकका विदारण करता है और उसको उठाकर चलानेवाले अपने घातके भयसे अनभिज्ञ कहलाते हैं उसी प्रकार परपक्षका निराकरण करने वाले वैतण्डिकोंके द्वारा दर्शनमोहके उदयसे आक्रान्त होनेके कारण जिस न्यायका प्रणयन किया गया है वह अपने पक्षका भी निराकरण करता है और इसलिये उन्हें भी स्वपक्षघातके भयसे अनभिज्ञ एवं दृक्प्रमूढ समझना चाहिये।'

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तु-व्यवस्थाऽङ्गममेयमन्यत् ॥५९॥

'(यदि यह कहा जाय कि 'साधनके विना साध्यकी स्वयं सिद्धि नहीं होती' इस वाक्यके अनुसार संवेदनाद्वैतकी भी सिद्धि नहीं होती तो मत हो, परन्तु शून्यतारूप सर्वका अभाव तो विचारबलसे प्राप्त हो जाता है, उसका परिहार नहीं किया जा सकता अतः उसे ही मानना चाहिये' तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि) **हे वीर अर्हन् ! आपके मतमें अभाव भी वस्तुधर्म होता है**—बाह्य तथा आभ्यन्तर वस्तुके असम्भव होनेपर सर्व-शून्यतारूप तदभाव सम्भव नहीं हो सकता; क्योंकि स्वधर्मीके असम्भव होने-पर किसी भी धर्मकी प्रतीति नहीं बन सकती। अभावधर्मकी जब प्रतीति है तो उसका कोई धर्मी (बाह्य-आभ्यन्तर पदार्थ) होना ही चाहिये, और इस लिये सर्वशून्यता घटित नहीं हो सकती। सर्व ही नहीं तो सर्व-शून्यता कैसी ? तत् ही नहीं तो तदभाव कैसा ? अथवा भाव ही नहीं तो अ-भाव किसका ? इसके सिवाय, यदि वह अभाव स्वरूपसे है तो उसके वस्तुधर्म-त्वकी सिद्धि है; क्योंकि स्वरूपका नाम ही वस्तुधर्म है। अनेक धर्मोंमेंसे किसी धर्मके अभाव होनेपर वह अभाव धर्मान्तर ही होता है और जो धर्मान्तर होता है वह कैसे वस्तुधर्म सिद्ध नहीं होता ? होता ही है। यदि वह अभाव स्वरूपसे नहीं है तो वह अभाव ही नहीं है; क्योंकि अभावका अभाव होनेपर भावका विधान होता है। **और यदि वह अभाव** (धर्मका अभाव न होकर) **धर्मीका अभाव है तो वह भावकी तरह भावान्तर होता है**—जैसे कि कुम्भका जो अभाव है वह भूभाग है और वह भावा-न्तर (दूसरा पदार्थ) ही है, यौगमतकी मान्यताके अनुसार सकल-शक्ति-विरहरूप तुच्छ नहीं है। सारांश यह कि अभाव यदि धर्मका है तो वह धर्मकी तरह धर्मान्तर होनेसे वस्तुधर्म है और यदि वह धर्मीका है तो वह भावकी तरह भावान्तर (दूसरा धर्मी) होनेसे स्वयं दूसरी वस्तु है—उसे सकलशक्ति-शून्य तुच्छ नहीं कह सकते। **और इस सबका कारण यह है कि अभावको प्रमाणसे जाना जाता है, व्यपदिष्ट किया जाता है और वस्तु-व्यवस्थाके अङ्गरूपमें निर्दिष्ट किया जाता है।**'

(यदि धर्म अथवा धर्मीके अभावको किसी प्रमाणसे नहीं जाना जाता

तो वह कैसे व्यवस्थित होता है ? नहीं होता। यदि किसी प्रमाणसे जाना जाता है तो वह धर्म-धर्मीके स्वभाव-भावकी तरह वस्तु-धर्म अथवा भावान्तर हुआ। और यदि वह अभाव व्यपदेशको प्राप्त नहीं होता तो कैसे उसका प्रतिपादन किया जाता है ? उसका प्रतिपादन नहीं बनता। यदि व्यपदेशको प्राप्त होता है तो वह वस्तुधर्म अथवा वस्त्वन्तर ठहरा, अन्यथा उसका व्यपदेश नहीं बन सकता। इसी तरह वह अभाव यदि वस्तु-व्यवस्थाका अंग नहीं तो उसकी कल्पनासे क्या नतीजा ? 'घटमें पटादिका अभाव है' इस प्रकार पटादिके परिहार-द्वारा अभावको घट-व्यवस्थाका कारण परिकल्पित किया जाता है; अन्यथा वस्तुमें सङ्कर दोषोंका प्रसंग आता है—एक वस्तुको अन्य वस्तुरूप भी कहा जा सकता है, जिससे वस्तुकी कोई व्यवस्था नहीं रहती—अतः अभाव वस्तु-व्यवस्थाका अंग है और इस लिये भावकी तरह वस्तुधर्म है।)

'जो अभाव-तत्त्व (सर्वशून्यता) वस्तु-व्यवस्थाका अङ्ग नहीं है वह (भाव-एकान्तकी तरह) अमेय (अप्रमेय) ही है—किसी भी प्रमाणके गोचर नहीं है।'

(इस तरह दूसरोंके द्वारा परिकल्पित वस्तुरूप या अवस्तुरूप सामान्य जिस प्रकार वाक्यका अर्थ नहीं बनता उसी प्रकार व्यक्तिमात्र परस्पर-निरपेक्ष उभयरूप सामान्य भी वाक्यका अर्थ नहीं बनता; क्योंकि वह सामान्य अमेय है—सम्पूर्ण प्रमाणोंके विषयसे अतीत है अर्थात् किसी भी प्रमाणसे उसे जाना नहीं जा सकता।)

विशेष-सामान्य-विषक्त-भेद-
विधि-व्यवच्छेद-विधायि-वाक्यम्।
अभेद-बुद्धेरविशिष्टता स्याद्
व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥६०॥

'वाक्य (वस्तुतः) विशेष (विसदृश परिणाम) और सामान्य

(सदृश परिणाम) को लिये हुए जो (द्रव्यपर्यायकी अथवा द्रव्य-गुण-कर्मकी व्यक्तिरूप) भेद हैं उनके विधि और प्रतिषेध दोनोंका विधायक होता है।—जैसे 'घट लाओ' यह वाक्य जिस प्रकार घटके लानेरूप विधिका विधायक (प्रतिपादक) है उसी प्रकार अघटके न लानेरूप प्रतिषेधका भी विधायक है, अन्यथा उसके विधानार्थ वाक्यान्तरके प्रयोगका प्रसंग आता है और उस वाक्यान्तरके भी तत्प्रतिषेधविधायी न होनेपर फिर दूसरे वाक्यके प्रयोगकी जरूरत उपस्थित होती है और इस तरह वाक्यान्तरके प्रयोगकी कहीं भी समाप्ति न बन सकनेसे अनवस्था दोषका प्रसंग आता है, जिससे कभी भी घटके लानेरूप विधिकी प्रतिपत्ति नहीं बन सकती। अतः जो वाक्य प्रधानभावसे विधिका प्रतिपादक है वह गौणरूपसे प्रतिषेधका भी प्रतिपादक है और जो मुख्यरूपसे प्रतिषेधका प्रतिपादक है वह गौणरूपसे विधिका भी प्रतिपादक है, ऐसा प्रतिपादन करना चाहिये।

(हे वीर जिन !) आपके यहाँ—आपके स्याद्वाद-शासनमें—(जिस प्रकार) अभेदबुद्धिसे (द्रव्यत्वादि व्यक्तिकी) अविशिष्टता (समानता) होती है (उसी प्रकार) व्यावृत्ति (भेद) बुद्धिसे विशिष्टताकी प्राप्ति होती है।'

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

'(हे वीर भगवन् !) आपका तीर्थ—प्रवचनरूप शासन, अर्थात् परमागमवाक्य, जिसके द्वारा संसार-महासमुद्रको तिरा जाता है—सर्वान्तवान् है—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक, आदि अशेष धर्मोंको लिये हुए है—और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथमें लिये हुए है—एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है, इसीसे

सुव्यवस्थित है, उसमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है। जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सर्व-दुःखोंका अन्त करनेवाला है, यही निरन्त है—किसी भी मिथ्या-दर्शनके द्वारा खंडनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदय-का कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा सर्वोदय-तीर्थ है।'

भावार्थ—आपका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों (परस्पर-निरपेक्ष नयों) अथवा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्तवादरूप मिथ्यादर्शन ही संसारमें अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं, इसलिये इन दुर्नयरूप मिथ्यादर्शनोंका अन्त करनेवाला होनेसे आपका शासन समस्त आपदाओंका अन्त करनेवाला है, अर्थात् जो लोग आपके शासनतीर्थका आश्रय लेते हैं—उसे पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं। और वे अपना पूर्ण अभ्युदय—उत्कर्ष एवं विकास—सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डित-मान-शृङ्गो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

(हे वीर जिन!) आपके इष्ट-शासनसे यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी, यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ; उप-पत्ति-चक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसङ्गत समाधानकी दृष्टिसे—

आपके इष्टका—शासनका—अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानशृङ्ग खंडित होजाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्या-दृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यों कहिये कि आपके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है॥'

(शिखरिणी वृत्त[१])

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भव-पाश-च्छिदि मुनौ
न चाऽन्येषु द्वेषादपगुण-कथाऽभ्यास-खलता।
किमु न्यायाऽन्याय-प्रकृत-गुणदोषज्ञ-मनसां
हिताऽन्वेषोपायस्तव गुण-कथा-सङ्ग-गदितः ॥६३॥

'(हे वीर भगवन्!) हमारा यह स्तोत्र आप-जैसे भव-पाश-छेदक मुनिके प्रति रागभावसे नहीं है, न हो सकता है—क्योंकि इधर तो हम परीक्षा-प्रधानी हैं और उधर आपने भव-पाशको छेदकर संसारसे अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है; ऐसी हालतमें आपके व्यक्तित्वके प्रति हमारा राग-भाव इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं हो सकता। दूसरोंके प्रति द्वेषभावसे भी इस स्तोत्रका कोई सम्बन्ध नहीं है—क्योंकि एकान्तवादियोंके साथ अर्थात् उनके व्यक्तित्वके प्रति हमारा कोई द्वेष नहीं है—हम तो दुर्गुणोंकी कथाके अभ्यासको खलता समझते हैं और उस प्रकारका अभ्यास न होनेसे वह 'खलता' हममें नहीं है, और इसलिये दूसरोंके प्रति द्वेषभाव भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका कारण नहीं हो सकता। तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश? उद्देश यही है कि जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं और प्रकृत

---

१. इससे पूर्वका समग्र ग्रन्थ उपजाति और उपजाति जिनसे मिलकर बनता है उन इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा वृत्तों (छन्दों) में है।

पदार्थके गुण-दोषोंको जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषणके उपायस्वरूप' आपकी गुणकथाके साथ कहा गया है। इसके सिवाय, जिस भव-पाशको आपने छेद दिया है उसे छेदना अपने और दूसरोंके संसारबन्धनोंको तोड़ना—हमें भी इष्ट है और इस लिये यह प्रयोजन भी इस स्तोत्रकी उत्पत्तिका एक हेतु है। इस तरह यह स्तोत्र श्रद्धा और गुणज्ञताकी अभिव्यक्तिके साथ लोक-हितकी दृष्टिको लिये हुए है।'

> इति स्तुत्यः स्तुत्यैस्त्रिदश-मुनि-मुख्यैः प्रणिहितैः
> स्तुतः शक्त्या श्रेयःपदमधिगतस्त्वं जिन ! मया ।
> महावीरो वीरो दुरित-पर-सेनाऽभिविजये
> विधेया मे भक्तिं पथि भवत एवाऽप्रतिनिधौ ॥६४॥

'हे वीर जिनेन्द्र ! आप चूँकि दुरितपरकी—मोहादिरूप कर्मशत्रुओं-की—सेनाको पूर्णरूपसे पराजित करनेमें वीर हैं—वीर्यातिशयको प्राप्त हैं—, निःश्रेयस पदको अधिगत (स्वाधीन) करनेसे महावीर हैं और देवेन्द्रों तथा मुनीन्द्रों (गणधरदेवादिकों) जैसे स्वयं स्तुत्योंके द्वारा एकाग्रमनसे स्तुत्य हैं, इसीसे मेरे—मुझ परीक्षाप्रधानीके—द्वारा शक्ति-के अनुरूप स्तुति किये गये हैं। अतः' अपने ही मार्गमें—अपने द्वारा अनुष्ठित एवं प्रतिपादित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्गमें, जो प्रतिनिधिरहित है—अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे निर्णीत है अर्थात् दूसरा कोई भी मार्ग जिसके जोड़का अथवा जिसके स्थानपर प्रतिष्ठित होनेके योग्य नहीं है—मेरी भक्तिको सविशेष रूपसे चरितार्थ करो—आपके मार्ग-की अमोघता और उससे अभिमत फलकी सिद्धिको देखकर मेरा अनुराग (भक्तिभाव) उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़े जिससे मैं भी उसी मार्गकी आराधना-साधना करता हुआ कर्मशत्रुओंकी सेनाको जीतनेमें समर्थ होऊँ और निःश्रेयस (मोक्ष) पदको प्राप्त करके सफल मनोरथ हो सकूँ। क्योंकि

सच्ची सविवेक-भक्ति ही मार्गका अनुसरण करनेमें परम सहायक होती है और जिसकी स्तुति की जाती है उसके मार्गका अनुसरण करना अथवा उसके अनुकूल चलना ही स्तुतिको सार्थक करता है, इसीसे स्तोत्रके अन्तमें ऐसी फलप्राप्तिकी प्रार्थना अथवा भावना की गई है।'*

इति श्रीनिरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति-सकलतार्किकचक्रचूडामणि-
श्रद्धागुणशतादिसातिशयगुणगणविभूषित-सिद्धसारस्वत-
स्वामिसमन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीतं हितान्वेषणोपायभूतं
युक्त्यनुशासनं स्तोत्रं समाप्तम्।

* इस स्तोत्रकी श्रीविद्यानन्दाचार्य-विरचित-संस्कृतटीकाके अन्त-में स्तुत्याऽभिनन्दन और ग्रन्थ-प्रशस्त्यादिके रूपमें जो दो महत्त्वके पद्य पाये जाते हैं वे इस प्रकार हैं :—

स्थेयाज्जातजयध्वजाऽप्रतिनिधिः प्रोद्भूत-भूरिप्रभुः
प्रध्वस्ताऽखिल-दुर्नय-द्विषदिभः सन्नीति-सामर्थ्यतः।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्ग-मथनोऽर्हन्वीरनाथः श्रिये
शश्वत्संस्तुति-गोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥१॥
श्रीमद्वीर-जिनेश्वराऽमल-गुण-स्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याऽखिलम्।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गाऽनुगै-
र्विद्यानन्द-बुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥२॥

युक्त्यनुशासनकी कारिकाओंका अकारादि-क्रम